* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

वर्ष ५८] 'हतिगज-सत्रु स्वरके स्वामी, ततछन सुख उपजाए।' [संख्या ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, सितम्बर १९८४

चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य भारतमें १.००रु० विदेशमें १० पैंस

जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य भारतमें २४.०० रु० विदेशमें ५२-०० रु० (३ पौण्ड ५० पैंस)

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका

आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक—राधेश्याम खेमका

गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

(भारत-सरकार द्वारा उपलब्ध कराये गये)

(रियायती मूल्य के कागज पर मुद्रित)

परामबा भगवती

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, सितम्बर १९८४ ई० { संख्या ९
पूर्ण संख्या ६९४

पराम्बा भगवतीको नमस्कार

त्रैलोक्यमेतदखिलं रिपुनाशनेन
त्रातं त्वया समरमूर्धनि तेऽपि हत्वा ।
नीता दिवं रिपुगणा भयमप्यपास्त-
मस्माकमुन्मदसुरारिभवं नमस्ते ॥

(दुर्गा स० श० ४ । २३)

देवता कहते हैं—मातः ! आपने शत्रुओंका नाश कर इस समस्त त्रिलोकीकी रक्षा की है । उन शत्रुओंको भी युद्धभूमिमें मारकर स्वर्गलोकमें पहुँचाया है तथा उन्मत्त दैत्योंसे प्राप्त होनेवाले हमलोगोंके भयको भी दूर कर दिया है, (अतः) आपको हमारा नमस्कार है ।

कल्याण

श्रीभगवान्‌के चरणोंकी शरण लेना ही जीवनकी एकमात्र सफलता है; क्योंकि भगवान् ही समस्त प्राणियोंके स्वामी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हैं। जो लोग इन्द्रिय-भोगोंमें फँस जाते हैं, उन्हें भगवान्‌के परम कल्याण-स्वरूप चरणकमलोंकी प्राप्ति नहीं होती।

इसलिये यह मानव-शरीर—जो भगवत्प्राप्तिके लिये पर्याप्त है—जबतक रोग-शोकादिसे ग्रस्त होकर मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक बुद्धिमान् पुरुषको अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर लेना चाहिये।

प्रभुका पथ बतलानेवाले और उसपर ले चलनेवाले गुरुकी भक्तिपूर्वक सेवा, अपनेको जो कुछ मिले, सब भगवान्‌के समर्पण कर देना, प्रेमी-भक्त साधुओंका सत्सङ्ग, भगवान्‌की आराधना, भगवत्कथामें श्रद्धा, भगवान्‌के गुण और लीलाओंका कीर्तन, भगवान्‌के चरण-कमलोंका ध्यान, भगवान्‌के श्रीविग्रहादिका दर्शन-पूजन आदि साधनोंसे भगवान्‌में सहज प्रेम हो जाता है।

भगवान् परमेश्वर श्रीहरि समस्त प्राणियोंमें विराजमान हैं, यह समझकर यथाशक्ति सभी प्राणियोंकी इच्छा पूरी करे और हृदयसे उन सबका सम्मान करे।

जो लोग काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन छः भीतरी शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके उपर्युक्त प्रकारसे भगवान्‌की भक्ति करते हैं, उन्हें भगवान् वासुदेवके श्रीचरणोंमें अनन्य प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है।

प्रेम-भक्तिकी प्राप्ति होनेपर जब भगवान्‌के लीला-शरीरोंमें किये हुए अद्भुत पराक्रम, उनके अनुपम गुण और चरित्रोंको सुनकर अत्यन्त हर्षसे जब मनुष्यका रोम-रोम खिल उठता है, प्रेमाश्रुओंके कारण कण्ठ गद्गद हो जाता है और वह संकोच छोड़कर उच्च स्वरसे गाने और नाचने लगता है, जब वह ग्रहाविष्ट उन्मत्तकी भाँति कभी हँसता है, कभी करुण-क्रन्दन करता है, कभी भगवान्‌के दिव्य गुणोंका स्मरण करके उनका ध्यान करता है तो कभी भगवद्भावसे उनकी वन्दना करने लगता है, जब वह भगवान्‌में तन्मय होकर निःसंकोच श्वास-श्वासमें 'हे हरे, हे जगत्पते, हे नारायण!' इस प्रकार पुकारने लगता है, तब इस प्रेमाभक्तिके प्रभावसे उसके सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवद्भावकी भावना करते-करते उसका हृदय भगवन्मय हो जाता है। उस समय उसके जन्म-मरणके बीजोंका भंडार बिल्कुल जल जाता है और वह पुरुष श्रीभगवान्‌को प्राप्त कर लेता है।

धन, स्त्री, पशु, पुत्र, पुत्री, महल, जमीन, हाथी, खजाना और भाँति-भाँतिके ऐश्वर्य और तो क्या, संसारका समस्त धन तथा भोगपदार्थ—सभी क्षणभङ्गुर हैं। वे इस मरणशील मनुष्यको क्या सुख दे सकते हैं?

भगवान् मुकुन्दको प्रसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना, सदाचार और बहुत-सा ज्ञान होना तथा दान, तप, यज्ञ, शौच और बड़े-बड़े व्रतोंका अनुष्ठान करना ही सब कुछ नहीं है। भगवान् श्रीहरि तो केवल निष्काम प्रेम-भक्तिसे भी प्रसन्न होते हैं, और सब तो विस्तार मात्र है।

इसलिये सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर सर्वज्ञ विराजमान सबके आत्मा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर श्रीहरिकी भक्ति करनी चाहिये।

यह भक्ति ऐसी है कि इसके प्रभावसे दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्री, शूद्र, गोपालक, पशु-पक्षी और बहुत-से पापी जीव भी भगवद्भावको प्राप्त हो जाते हैं।

इस जगत्‌में जीवका सबसे बड़ा स्वार्थ—परम स्वार्थ एकमात्र यही है कि वह सदा-सर्वदा-सर्वत्र—सबमें भगवान्‌का दर्शन करता हुआ भगवान् गोविन्दकी अनन्य भक्ति करे।

—'शिव'

चतुर्विधा भजन्ते

(ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

भगवद्भक्त चार प्रकारके होते हैं। इनमें प्रथम हैं—आप्तकाम, आत्माराम, परमनिष्काम, तत्त्वविद् ब्रह्मनिष्ठ, परमात्मरहस्यज्ञ ज्ञानी, जिनको ऐन्द्र तथा ब्राह्मपद पर्यन्तके सम्पूर्ण वैभवोंकी रंचमात्र भी चाह नहीं होती, वे योगीन्द्र, मुनीन्द्र, अमलात्मा, महात्मा बिना किसी प्रयोजनके सर्वैश्वर्यपूर्ण, मधुरतम लीला-विहारी भगवान्‌के अव्यावृत भजनमें लगे रहते हैं। यद्यपि वे पूर्णकाम, आत्माराम, परब्रह्ममें परिनिष्ठित हैं, भजन करनेकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है, तथापि वे ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले मुनिजन दिव्य, शुद्ध, नित्य, चिन्मय भगवत्स्वरूपके सामने आते ही क्षुब्ध हो उठते हैं और उनके मरे हुए मन भी जीवित होकर इस स्वरूपकी एक एक वस्तुपर मुग्ध हो जाते हैं, जिनका इन्द्रियोंके विकाररूप रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्शसे मुमुक्षु-अवस्थामें ही चित्त उपरत हो जाता है और भजन करना जिनका स्वभाव हो जाता है तथा कमलनयन, घनश्यामके विधुविनिन्दक बदनारविन्दपर अतिमृदुल मन्द मुस्कान एवं उनके अतिमनोहर नयनयुगलके कमनीय कृपाकटाक्ष एवं इसी प्रकार प्रभुके अन्यान्य श्रीअङ्गोंका अवलोकन कर, दृश्य नामरूपात्मक प्रपञ्चोंसे अन्यमनस्कचित्त वे योगीन्द्र-मुनीन्द्र भी लट्टू हो जाते हैं। एक बार वे दिव्य वैकुण्ठलोकमें श्रीमहाविष्णुके समीप नित्य आत्मनिष्ठ सनकादि ऋषि पधारे। ज्यों ही वे भगवान्‌के सामने पहुँचे और उनके स्वरूपको देखा कि मुग्ध हो गये। भगवान्‌की सुन्दरता देखते-देखते उनके नेत्र किसी प्रकार तृप्त ही न होते थे। भगवान्‌के सौन्दर्यने ही उन्हें मुग्ध किया हो सो नहीं, प्रणाम करते समय कमलनयन श्रीहरिके पादपद्मपरागसे मिली हुई तुलसी-मञ्जरीकी सुगन्ध वायुके द्वारा नासिकामार्गसे ज्यों ही मुनियोंके अन्तरमें पहुँची कि उनका मन क्षुब्ध हो गया, उस सुगन्धकी ओर खिंच गया, उसपर मोहित हो गया और आनन्दसे उनके रोमाञ्च हो आया—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किंजल्कमिश्रतुलसीमकरंदवायुः।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः॥

यही दशा श्रीमद्राघवेन्द्र रामचन्द्रका स्वरूप देखकर श्रीजनककी हुई थी—

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

किसी प्रकार उन्हें अपनेको विवेक, धैर्यसे सँभाला, परंतु पूछे बिना न रहा गया। श्रीविश्वामित्रके चरणोंमें प्रणाम किया और फिर गद्गदवाणीसे पूछने लगे—

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

और भी देखिये। विवाहके समय उनकी क्या दशा हुई—

क्यों करै बिनय बिदेहु कियो बिदेहु मूरति सावँरीं।
करि होमु बिधिवत गाँठि जोरी होन लागीं भावँरीं॥

इत्यादि।

सारांश यह कि भजन करना ऐसे ज्ञानी भक्तोंका स्वभाव ही बन जाता है। वे चाहते हैं कि कुछ समय भजन न करें, किंतु उनके रोकनेपर भी उनका मन प्रभुकी नखमणि-चन्द्रिकाका चिन्तन करने लगता है, प्रभुके त्रिभुवनपावन, मङ्गलमय नामका उच्चारण करने लगता है। एक गोपाङ्गना लीलाविहारी, त्रिभुवनकमनीय, योगिजनदुर्लभ, देवदेवप्रत्याशित, ऋषि-महर्षि-महापुरुष-

चित्ताकर्षक, निखिल सौन्दर्य-माधुर्य-रसामृतसारभूत, आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन, मदन-मोहन श्रीकृष्णचन्द्रके विरहजन्य तीव्र तापसे तापित होकर जमीनपर बेहोश पड़ी थी और एक दूसरी सखी उसके मुखपर गुलाबजलके छींटे दे-देकर धीरे-धीरे पंखा झल रही थी। इतनेमेंही एक तीसरी सखी आयी और जन-मन-हारी, बाँकेबिहारी, राधारमण, बाधाहरण, नन्दनन्दनकी चर्चा करने लगी। तबतक दूसरी बोली—'सखि ! उनकी चर्चा इस समय न छेड़, तू यदि अपनी प्रिय सखी-(मुझ-) को इस समय विश्राम लेने देना चाहती है, तो उनकी चर्चा भूलकर भी न चला। बल्कि कोई और चर्चा चलाकर माधवको इस समय भुलवा दे।'

कैसी विचित्र दशा है ! कोई तो इस आधि-व्याधिपूर्ण शोकतापसंकुल, जन्म-मृत्युसंकीर्ण, आर्तनादके उद्भवस्थ।न, मृत्युके लीलाक्षेत्र, पापबिद्ध संसारका विस्मरण कर भगवद्रसका आस्वादन करना अथवा प्रभुका स्मरण करना चाहते हैं, पर ऐसा होता नहीं; और इधर ये महाभागा गोपाङ्गनाएँ नन्दनन्दनका किसी तरह विस्मरण करना चाहती हैं, पर उनसे ऐसा हो नहीं पाता।

वस्तुतः ज्ञानी भी कई तरहके होते हैं। एक तो लोकसंग्रह और दूसरे जड़भरतके समान जंगलोंमें उन्मत्त, प्रेमविभोर होकर इधर-उधर फिरनेवाले। लोकसंग्रही भी आत्माराम, आप्तकाम होते हैं, परंतु भगवान्‌की प्रेरणासे वे धर्मसंस्थापनमें लगे रहते हैं। महर्षि व्यास-देव परमज्ञानी होते हुए भी पुराणोंके निर्माणमें, आदि शङ्कराचार्य परम ज्ञानी होते हुए भी बौद्धोंके खण्डनमें लगे रहते थे। लोकसंग्रहीके सामने कठिनाइयाँ भी आती हैं; क्योंकि संसार तो कुत्तेकी पूँछके समान है। कुत्तेकी पूँछको कितना ही घी-तेल लगाकर बाँसकी नलीमें डालकर सीधी करें, किंतु ज्यों ही वह बाँसकी नलीसे निकली, त्यों ही फिर टेढ़ी-की-टेढ़ी। इसलिये ऐसे ज्ञानियोंको पदे-पदे भगवान्‌का सहारा लेना पड़ता है।

अब दूसरी कोटिके भक्तोंको लिये हैं, पूर्ण विरक्त जिज्ञासुजन जिनके लिए कहा गया है—

रमाबिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

जैसे उत्तमोत्तम पदार्थोंको खाकर वमन कर दें तो उस ओर देखनेतकको जी नहीं चाहता, ठीक वैसे ही इन जिज्ञासुओंको ऐन्द्र, माहेन्द्र एवं ब्राह्मपदपर्यन्तके समस्त वैभव विषवत्, वमनवत् प्रतीत होते हैं। वे वेदाध्ययन आदि करते हैं, किंतु भगवान्‌का भजन करते हुए। जो लोग ऐसा नहीं करते, वे उसी चीलके समान हैं, जो उड़ती तो आकाशमें है, पर दृष्टि रहती है नीचे। ये लोग भी उड़ते तो शास्त्रोंपर है, पर इनकी दृष्टि रहती है संसारपर; लक्ष्य रहता है क्षुद्र वैषयिक सुखोंकी प्राप्ति करना। अतः जो लोग विवेक और ज्ञानके साथ भगवत्प्राप्तिको लक्ष्य बनाकर ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं करते, उनके लिये ग्रन्थ ग्रन्थिका ही काम करते हैं। ऐसे लोग भगवत्साक्षात्कार नहीं कर सकते।

तीसरी कोटिके भक्त हैं आर्त्त—गजेन्द्र, द्रौपदीकी तरह पीड़ित, सताये गये और चौथे भक्त हैं—अर्थार्थी—विभीषणकी तरह। जिस समय विभीषण सर्वसौन्द्रर्याधार, अखण्डानन्दभण्डार, परमसमुज्ज्वल, अतिसुन्दर, चिरमधुर रसमय भगवान्‌के पास आये, वे कहते हैं नाथ !

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

और फिर तत्क्षण ही कहते हैं—

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥

इसके अतिरिक्त कुछ एक भक्त ऐसे भी होते हैं, जो ज्ञान भी प्राप्त करना चाहते हैं, धन भी प्राप्त करना चाहते हैं और विपत्ति-निवारण भी करना चाहते हैं। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने, धन प्राप्त करने और विपत्ति निवारण करनेके साधन उनके पास हैं, तथापि वे

भगवान्‌का भजन नहीं छोड़ते । इधर जो अस्त्रबल, शस्त्रबल, बाहुबल, बौद्धबलके घमण्डमें आकर भगवान्‌को भूल जाते हैं, उनका मनोरथ मरुभूमिकी नदियोंकी तरह बीचमेंही सूख जाता है, सिद्धिसाफल्य मिलना तो दूर रहा । इसलिये अर्जुन जिस समय द्वारकासे पटरानियोंको लेकर लौट रहे थे, उस समय आभीरोंने उनको बाँसके डंडोंसे पीट-पीटकर पटरानियोंको छीन लिया । वही शक्तिमान् अर्जुन, वही सेना, वही नन्दिघोष रथ और वही गाण्डीव धनुष, किंतु एक श्रीकृष्णके बिना उनके सारे साधन व्यर्थ हो गये । इसलिए कोई कितना ही शक्तिसम्पन्न क्यों न हो, भगवच्चरणोंका सहारा लेते हुए ही उसे चलना चाहिये ।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो चाहते तो सब कुछ हैं, पर साधन एक भी नहीं करते । ऐसे लोगोंको भी निराश न होना चाहिये । शास्त्रोंने उनको भी आश्वासन दे रखा है । संत कहते हैं—

'सुने री मैंने निर्बलके बल राम ।'

निष्काम अनन्य भक्त नरसीकी तरह जो साधन-विहीन हैं, दीन-दुनियाका जिन्हें कुछ भी भरोसा नहीं, केवल भगवान्‌का ही सहारा है, ऐसे भक्तोंको भगवान् ऐसा प्रसन्न करते हैं, कि वह निहाल हो जाता है । ऐसे भी भक्त होते हैं, जो चाहते सब कुछ हैं, पर साधन कुछ नहीं है और साथ ही भगवान्‌पर विश्वास भी नहीं है । ऐसे लोगोंके लिये भी शास्त्रोंमें निराशाकी बात नहीं है । शास्त्र उन्हें भी परामर्श देते हैं कि तुम भगवान्‌को पुकारो—'हे अशरणशरण, हे अनाथनाथ, हे अकारण-करुण, हे करुणा-वरुणालय, हे प्रभो ! मैं आपको नहीं जानता, अपनेको नहीं जानता, आपके और अपने सम्बन्धको नहीं जानता । माया-ठगिनीने मुझे खूब ठगा । मैं उन्मादी बन बैठा । तरङ्ग, कटक, मुकुट, कुण्डल, घटाकाश जैसे घमण्ड करे कि मेरे अतिरिक्त जल नामकी कोई वस्तु नहीं, स्वर्ण नामकी कोई वस्तु नहीं और महाकाश नामकी कोई वस्तु ही नहीं है—ठीक इसी प्रकार भगवन् ! मैं इतना उन्मादी बन बैठा कि कहने लगा—'ईश्वर नामकी कोई वस्तु नहीं ।' नाथ ! अब आप ही कृपा करें कि मैं भाव-कुभाव जिस किसी तरहसे तो आपको पुकारूँ । इस प्रकार अनन्य शरण होनेसे उनका भी परम श्रेय आते हैं ।

अभय-वाणी

(महात्मा श्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे । हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

अरे प्रियतम ! आत्म-विस्मृत संतान ! अभयदान करना ही तो मेरा व्रत है । कोई भी क्यों न हो, यदि वह शरणागत है तो मैं उसे हृदयमें बैठाकर अपना बना लेता हूँ । तू केवल एक बार—'मैं तेरा हूँ' कहकर जीवन-मरणमें निश्चिन्त हो जा ।

सुन प्रियतम ! नाम ही भक्ति है, नाम ही भाव है, नाम ही प्रेम है, मैं ही नाम हूँ, नाम ही मैं हूँ, नाम-रूपमें तूने मुझे ही पाया है । अब डर काहेका । नाम ही ध्येय है, नाम ही ध्यान है, नाम ही साध्य है, नाम ही साधन है, नाम ही उपाय है, नाम ही प्राप्य है, नाम ही सार्थक है, नाम ही पूज्य है, नाम ही पूजा है और नाम ही उपचार है । अरे ! देख, पुलक-माला-भूषित विगलित प्राण भक्तके नेत्रोंका जल मुझे बहुत प्रिय है । तू नेत्रोंके जलसे नाम-उपचारमें पूजा करता और नाम लेता रह । नाम लेता रह । **मा भैः,**

बाह्य एवं आन्तरिक त्यागका तात्पर्य

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका प्रवचन)

अब आपलोगोंको मनुष्यमात्रके लिये त्याग करनेकी बातें बतलायी जाती हैं। वह त्याग सबका उद्धार करनेवाला है। तीर्थपर आकर क्या त्याग करना चाहिये—अब यह बतलाया जा रहा है। बतलायी हुई बातोंको सुनकर जिन बातोंका त्याग करना आप उचित समझें, उनका त्याग करना चाहिये।

(१) दिनमें सोनेका त्याग करना चाहिये। रातमें भी छः घंटोंसे ज्यादा नहीं सोना चाहिये। आपत्तिकालमें यानी बीमारीमें अथवा कभी रेलयात्राके कारण या अन्य किसी कारण अगर रात्रिको नींद निकालनेका काम पड़ा हो तो दिनमें शयन किया जा सकता है। हमने इसके सम्बन्धमें स्कन्दपुराणमें भी पढ़ा था। उसमें यही बात लिखी थी कि दिनमें सोना पाप है और उस पापका फल होता है नरककी प्राप्ति। इसलिये हमलोगोंको दिनमें सोकर पाप ही नहीं करना चाहिये। रात्रिमें भी छः घंटोंसे ज्यादा नहीं सोना चाहिये। रात्रिमें यदि आप कार्यवश दो ही घंटे सो पायें हों, यानी कोई पहरेका काम पड़ गया अथवा बीमारीके कारण रात्रिमें नींद नहीं आयी तो उसके बदलेमें आप दिनमें भी सो सकते हैं, लेकिन स्वाभाविक तौरपर आराम करनेके लिये दिनमें सोनेकी जरूरत नहीं है। तात्पर्य यह है कि अधिक निद्राका त्याग करना चाहिये।

(२) प्रमादका भी त्याग करना चाहिये। यह प्रमाद साक्षात् मृत्युका ही स्वरूप है। महाभारतके उद्योगपर्वमें सनत्सुजातने महाराज धृतराष्ट्रको बतलाया है कि यह प्रमाद ही मृत्यु है। यहाँ प्रश्न होता है कि प्रमाद किसे कहते हैं ?

न करनेयोग्य कर्मोंको करना यानी निषिद्ध कर्मोंको करना और करनेयोग्य कर्तव्य कर्मोंको नहीं करना—इसका नाम प्रमाद है।

करनेयोग्य कर्मोंको नहीं करना क्या है ? अपने माता-पिता एवं गुरुजनोंकी सेवा करना, यज्ञोपवीत हो तो संध्या एवं गायत्री-जप करना आदि जो कार्य शास्त्रोंमें करनेके लिये बतलाये गये हैं, उनका पालन नहीं करना भी अपराध है और शास्त्रके विपरीत कर्मोंको करना भी अपराध है। शास्त्रके विपरीत कर्मोंको पाप बतलाया गया है, अतः उनका त्याग करना चाहिये। यह बात जब समझमें आ जाय कि यह पाप है, दुर्गुण-दुराचार है तो उसका उसी समय त्याग कर देना चाहिये। क्यों व्यर्थमें उसको करनेका परिश्रम करना चाहिये ? जिस प्रकार साधु-संन्यासियोंके लिये आरम्भ-मात्रका त्याग बतलाया गया है, उस प्रकार गृहस्थके लिये न तो आरम्भ मात्रका त्याग बतलाया गया है और न कर्तव्य कर्मोंका ही त्याग बतलाया गया है। उन कर्मोंको करनेमें जो हिंसा होती है, उसका त्याग करनेकी बात अवश्य कही गयी है।

(३) अपनेमें जो दुर्बुद्धि(-दुर्भाव) है उसका त्याग करना चाहिये। जब यह बात समझमें आ जाय कि यह दुर्बुद्धि(-दुर्भाव) है तो उसका तत्काल त्याग कर देना चाहिये। जो बुरे आचरण और क्रियाएँ होती हैं उनको दुराचार कहा जाता है और भीतर हृदयमें जो बुरा ध्येय, बुरा भाव, बुरी नीयत, बुरा लक्ष्य आदि होते हैं उनको दुर्गुण कहा जाता है। इन दोनोंका ही त्याग करना चाहिये।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि आपने तो प्रकरणके आरम्भमें ऐसा कहा था कि उनके त्याग करनेमें कोई कठिनाई नहीं होती, लेकिन हमलोगोंको तो इनके त्याग करनेमें कठिनाई माळूम पड़ती है, उसका क्या कारण है ?

इसका उत्तर यह है कि जो बातें भीतर हृदयमें प्रवेश कर चुकी हैं उनके त्याग करनेमें तो थोड़ा परिश्रम लग सकता है, लेकिन जो बातें अभी बाहरकी ही हैं उनके त्यागमें कौन-सा परिश्रम लगता है ? यहाँ मैं अब बाहरके पाप-कर्मोंको त्याग करनेकी बात कहता हूँ। पाप-कर्मोंको करनेमें तो आपलोगोंका कुछ-न-कुछ परिश्रम ही होगा, उस परिश्रमके त्याग करनेकी ही बात लोगोंसे कही जाती है।

यदि आपलोग कहें कि हमको तो पाप-कर्मोंको करनेमें सुख मिलता है, मजा आता है, तो वह हमको भी जरा समझा दें कि उसमें क्या मजा मिलता है। आप शायद कहें कि आदमी चोरी करता है तब उसको रुपया मिलता है, घरमें धन आता है। पर चोरी करनेपर रुपया मिलता है या नहीं, यह बात तो चोरी करनेके बाद ही जानी जा सकती है; लेकिन पहले आप हमको यह बात बतलाइये कि क्या पहले जो चोरी करनेकी क्रिया होती है—दीवालमें सेंध लगाकर घरमें घुसना या मकानपर चढ़ना या अन्य किसी प्रकारसे छिपकर चोरी करनेका प्रयत्न करना—क्या इसमें भी कभी सुख मिलता है ? इस क्रियासे सुखकी कल्पना तो इसलिये होती है कि उसके बाद रुपया मिलनेकी सम्भावना है। चोरीका काम करके भी अगर रुपया नहीं मिलता है तो उसका केवल परिश्रम ही हुआ, चोरी करते समय यदि उस घरका कोई आदमी जाग जाय तो जान लेकर भागना पड़ेगा, भागनेपर भी यदि कहीं पकड़में आ गया तो कैद हो जाती है। पकड़े जानेपर यदि कैद (सजा) यहाँ नहीं भी मिलती है तब भी भगवान्‌के घर तो सजा मिलेगी ही। यहाँकी सरकारको तो लोग धोखा भी दे सकते हैं, लेकिन भगवान्‌को धोखा नहीं दे सकते। जो यह बात कही जाती है कि चोरी करनेसे रुपया मिलता है, वह तो मूर्खता है। रुपया तो जो आपकी तकदीर में, आपके भाग्यमें है, वह आपको मिलता है। उसको तो भगवान् पहुँचा जाते हैं। आपकी तकदीर-(भाग्य-)में जो धन लिखा है वह तो आपको हर प्रकारसे मिल ही जाता है। लेकिन इसके लिये पाप करना तो करनेवालेकी मूर्खता है और कमजोरी यानी ईश्वरमें विश्वासका अभाव है। कोई भाई पूछ सकते हैं कि क्या बिना परिश्रम एक भी रुपया मिल सकता है ? इसके उत्तरमें मैं कहता हूँ कि खूब मिल सकता है। जिस प्रकार एक धनी भाई किसी एक पंद्रह वर्षके लड़केको गोद लेता है तो इस पंद्रह सालके लड़केको धनी बननेमें क्या परिश्रम हुआ ? वह तो गरीब घरका होनेपर भी लाखोंका मालिक बन जाता है, अतः यह सब तो तकदीरकी बात है। इसी प्रकार एक भाई रुपयोंकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न करता है, लेकिन रुपयोंकी प्राप्ति नहीं होती, वह इसमें सफल नहीं होता। यह तो प्रत्यक्ष बात है कि रुपया तकदीरमें होनेसे ही मिलता है। तकदीरमें नहीं है तो चोरी करनेपर भी रुपया नहीं मिलता। फिर चोरी क्यों करनी चाहिये।

चेतन समाधि

मनको प्रेमसे समझाकर प्रभुके मार्गमें लगाने और प्रभुस्मरणमें लीन होकर खुली आँखोंसे ही प्रभुके दर्शनकी ऊँची स्थितिपर पहुँचनेकी क्रिया चेतन समाधि कहलाती है।

मन यदि प्रभुके मार्गमें जायगा तो अपने आप सुधरेगा और सहज समाधिका अनुभव करेगा।

ऐसे सत्पुरुषोंका मन तो खुली आँखोंके सामने कामोत्तेजक दृश्योंके होनेपर भी पवित्र रहता है। इसका कारण यह है कि उनका मन प्रभुमें संलग्न हो गया है। यही सच्ची समाधि है।

भागवत धर्म

(पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

[गताङ्क सं० ८, पृष्ठ-संख्या ७१७ से आगे]

भागवत धर्मकी ये विशेषताएँ

धर्म क्रियारूप हैं। वह अविकारी पुरुषके द्वारा अनुष्ठित होता है। कर्ता विधि-विधानका ज्ञाता होता है। धर्म महाराजकी पहचान ही यह है कि उनका दर्शन कर-करके आर्य-पुरुष अपनी प्रशंसा करने लगते हैं और जय भी बोलने लगते हैं। योगदेवता पाँव दबाकर चलते हैं, किसीको पता न लग जाये। वे एकान्तवासी, पक्के अभ्यासीके जीवनमें आविष्ट होते हैं। ब्रह्मज्ञान शान्त-दान्त, चिन्तनशील जिज्ञासुके हृदयमें चमक उठता है, परंतु भक्ति माता अपने किसी पुत्रको अपनी गोदमें उठा लेती हैं और उसके रोम-रोमको अपने वात्सल्य-रससे आप्लावित एवं आप्यायित कर देती हैं। उन्हें शास्त्रोक्त अधिकारी, एकान्ताभ्यासी अथवा शान्त-दान्त जिज्ञासुकी अपेक्षा वह बालक कहीं अधिक प्यारा लगता है जो अज्ञानी है, अबोध है, कर्म करनेमें असमर्थ है, एकान्त होनेपर रोता है, डरता है, जिसे मुक्ति नहीं चाहिये, प्रेम-माधुरीका बन्धन ही जिसको भाता है, वह कभी-कभी अपनी माताको भी भूल जाता है, परंतु माता उसे नहीं भूलती। माता अपने अबोध शिशुपर करुणाकी गंगा बहा देती है। एकान्तवासीको लोरी देने लगती है, अशुद्ध मल-मूत्रको प्रक्षालित कर देती है। भक्तके प्रति भगवान्‌के ममत्वको वही चरितार्थ करती है। वह जब देखती है कि हमारा शिशु मलिनतासे लथपथ हो रहा है, आगमें हाथ डालने जा रहा है, अहंकार, ममाकारकी विघ्न-बाधासे व्यथित हो रहा है, तब भगवती भक्ति माँके समान ही उसपर छा जाती है और अपनी स्नेह-माधुरीसे उसको निर्मल बना देती है। कुमार्गसे बचा लेती है, उसके तन-मनमें मुस्कान भर देती है। वे नासमझको ज्ञान देती है, मलिनको स्वच्छ करती हैं, पीड़ितको सुखी करती हैं। वे अबोधको सँभालती हैं, मलिनता दूर करनेमें रुचि लेती हैं, स्वयं मुस्कान बिखेर कर बच्चेके मुखकमलको भी विकसित कर देती हैं, रोतेको चुप कराती हैं, चुपको हँसाती हैं, भूखे-प्यासेको तृप्त करती हैं। इन्हें भगवान्‌के किसी रूपसे, किसी शिशुसे, किसी लीलासे कोई परहेज नहीं है। सबमें अपने प्रभुका अनुभव करना ही भक्तिका स्वभाव है।

धर्मानुष्ठानमें त्रुटि होनेपर प्रत्यवाय होता है और फल-भ्रंश हो जाता है। योगमें प्रमाद होनेपर समाधिमें विघ्न आ जाता है। तपस्यामें मद होता है। वैराग्यमें भगवत्सम्बन्धी पदार्थोंका भी तिरस्कार हो जाता है। पाण्डित्यमें अल्पज्ञोंका अपमान होता है। मौनमें दीनता आती है। ज्ञानाभिमानी दूसरेकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभाको भी आदर न देकर उनको अपनी पूर्व स्मृति-का विषय मान बैठता है—'यह तो मैं पहलेसे ही जानता था। इस प्रकार प्रायः सभी साधनोंमें कुछ-न-कुछ विघ्न हैं। सिद्धियोंका लोभ समाधिको भी दूर भगा देता है। ऐसी स्थितिमें सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओंसे असंस्पृष्ट भक्ति माता ही मनुष्यके लिये एकमात्र त्राण-कल्याण-निर्वाणकी जननी हैं। भक्तिकी ओर बिना समझे-बूझे, आँख बन्द करके दौड़ पड़ो, बीच-बीचमें साधन-पथका क्रम भङ्ग भले ही हो जाय परंतु न इसमें पाँव फिसलता है और न तो लक्ष्यकी प्राप्तिमें कोई बाधा पड़ती है। भक्तिके मार्गमें स्खलन तथा फल-भ्रंश नहीं है।

धर्म अन्तःकरण-शुद्धिके पहले आता है, शुद्ध करता है। तत्त्वज्ञान अन्तःकरण शुद्धिके पश्चात् आता है।

अशुद्धि-कालमें अन्तःकरणको सँभालनेवाली भक्ति ही है। यदि किसीसे धर्म छूट जाय, भगवान्का भजन करते-करते भजनका भी परिपाक न हो, वह भजनसे विमुख हो जाय तो स्वयं भजन ही उसको सहारा देकर अपनी ओर खींच लेता है। परंतु यदि नित्यसिद्ध भगवान्का बल न हो तो केवल अपने बलपर किया हुआ कृतक धर्म कुछ भी नहीं दे सकता। इसका कारण क्या है ? भक्तिके हृदयमें विराजमान भगवान् ही इसके कारण हैं। आचार्योंने इसको वस्तुकी शक्ति कहा है। भक्तिके विषय भगवान्की महिमा प्रमेय-प्रभुका बल है। आप जानते हैं, अनजानमें कोई अमृत पी ले तो अमर हो जायगा कि नहीं ? अनजानमें कोई विष पी ले तो मरेगा कि नहीं ? भगवत्सम्बन्धी पदार्थ अमृत है। उनमें वस्तु-गुण हैं, भगवद्-रस हैं। हम जानें, न जानें वे हमारे जीवनमें आते हैं और हमको भगवन्मय बना देते हैं। जाति-हीन, ज्ञानहीनमें ही जुड़कर परम कल्याण-भाजन हो जाते हैं। कुब्जामें काम था, कंसमें भय था, शिशुपालमें द्वेष था, पौण्ड्रकमें दम्भ था। इनमेंसे कोई भी भगवान्को पहचानता नहीं था, निष्काम प्रेम-भक्तिकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। 'जादू तो वह जो सिरपर चढ़कर बोले।' भगवान्की शक्ति तो वह जो अव्यक्त रहकर ही हृदयमें भक्ति-फलकी अभिव्यक्ति दे दे। अजामिलने कौन-सा जान-बूझकर भगवान्का नाम लिया था ? शबरीने कब विधि-विधानसे धर्माचरण किया था ? भगवान्ने स्वयं ही अपनेको भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें प्रतिष्ठित कर दिया है। उनके गुण-धर्मका लोप कभी नहीं होता।

भागवत-धर्मकी मूल दृष्टि

सगुण ब्रह्म जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है; अर्थात् वही बनता है, वही बनाता है। हिरण्यगर्भसे लेकर कीट-पतंग-पर्यन्त एवं प्रकृतिसे लेकर तृण-पर्यन्त सब भगवान्का ही रूप है। आकृति, संस्कृति, विकृति, प्रकृति पृथक्-पृथक् प्रतीत होनेपर भी उनके भेदसे तत्त्वमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। वह अपने सुनिश्चित स्वरूपका परित्याग नहीं करता। सत् अविनाशी है, चेतन-निर्विकार है, आनन्द निर्विषय है। आकार है सत्, निवृत्तिक है चित्, अभोग है आनन्द। परंतु ये आकार-विकार-भोग जो देखनेमें आते हैं, ये कौन हैं ? वही अभिन्न निमित्तोपादान कारण प्रभु। उपादान—जैसे घड़ेमें माटी, निमित्त—जैसे घड़ा बनानेवाला कुम्हार, सूत, डंडा, चाक, थापी, सब कुछ। यह जगत् घट है। इसका मूल-मसाला कर्ता-धर्ता-संहर्ता, कर्म-संस्कार-फल सब परमेश्वर हैं।

ईश्वरवादी अवैदिक उसे केवल निराकार रूपमें ही मानते हैं, साकार रूपमें नहीं, जैसे ईसाई, मुसलमान। ईश्वरवादी वैदिकोंमें कुछ ऐसे हैं, जो ईश्वरको साकार नहीं मानते, वे द्वैतवादी हैं, त्रैतवादी हैं जैसे ब्रह्मसमाजी, आर्यसमाजी, अभिन्न निमित्तोपादान कारणवादी। सभी सम्प्रदायके वैदिक ईश्वरको साकार-निराकार दोनों ही मानते हैं। विश्व वही है, विश्वातीत साक्षी वही है, विश्वकर्ता कारण वही है, विश्वरहित भी वही है। वह सब है, सबसे न्यारा है। इस दृष्टिकोणसे सृष्टिको देखिये। आपको कहीं ईश्वरकी नये रूपसे प्राण-प्रतिष्ठा नहीं करनी पड़ेगी, वह सर्वरूपमें विद्यमान तथा वर्तमान है।

केवल निराकारवादी चाहे वैदिक हो या अवैदिक, उनके मतमें मूर्तिपूजा और अवतारकी संगति नहीं लग सकती। वे सबमें परमात्मा मान सकते हैं, परंतु सबको परमात्मा नहीं मान सकते। अद्वैतवादी भी बाधित वृत्तिसे अधिष्ठानाभेदेन सबको परमात्मा ही मानते हैं। अतः उनके मतमें भी मूर्तिपूजा एवं अवतार सिद्ध होता है। सगुण परमेश्वरमें शरीर-शरीरिभावसे, कार्यकारण-भावसे, उपादान-उपादेय-भावसे मूर्तिपूजा सिद्ध होती

है और जीवोंके उद्धारके लिये कृपा-पारावार प्रभुका अवतार भी सिद्ध होता है। अतएव सनातन धर्मके सभी सिद्धान्त, साधन-पद्धति एवं पूजा-प्रक्रिया समञ्जस एवं सुसंगत हो जाती है। प्रकृति परमेश्वरका ही एक नाम है। ब्रह्मसूत्रमें यह अत्यन्त स्पष्ट है। अतः प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थमें परमेश्वर-भाव करके उपासना की जा सकती है। कालके रूपमें एकादशी, पूर्णिमा, शिवरात्रि, जन्माष्टमी आदि परमेश्वरके ही रूप हैं। दिव्य देशके रूपमें काशी, मथुरा, नैमिषारण्य, श्रीरङ्गम् आदि परमेश्वर ही हैं। इनका तो विन्यास भी वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा तुरीयके रूपमें माना गया है, जैसे काशी, वाराणसी, अन्तर्वेदी एवं अविमुक्त क्षेत्र। सभी तीर्थोंमें, क्षेत्रोंमें इसी प्रकारका विवेक है। वस्तुओंमें शालिग्राम-शिला, नर्मदेश्वर आदि हैं। द्विभुज, चतुर्भुज, त्रिकोण आदि आकार, शुक्ल, कृष्ण आदि रूप, सब परमात्माके ही उपास्य रूप हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन सबमें परमात्माकी भावना और अनुभव किया जाता है। माता-पिता, पति-पत्नी, बहन-भाई, कुमारी-कुमारके रूपमें भी ईश्वरकी पूजा होती है। गोबरकी गौरी, सुपारीके गणेश, पीपलके वासुदेव, गाय, घोड़े, हाथी भी परमात्माके स्वरूप हैं। सर्वरूपमें परमेश्वर हैं। इसका विज्ञान ही उसका अभिन्न निमित्तो-पादान-कारण होना है। थलचर, नभचरके रूपमें भी परमात्माका प्रकाश होता है। राम, कृष्ण, मत्स्य, वाराह इसीके उदाहरण हैं। यही भागवतधर्मका विज्ञान है और विशिष्टता है। अपने शरीरमें भी भगवान्‌की पूजा होती है और आकाशमें भी। सम्पूर्ण चराचर विश्व भगवद्रूप है और भगवान् आत्मस्वरूपसे अभिन्न हैं। यही भागवत-धर्म है। राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति करनेवाला ऐसा कोई धर्म नहीं है।

विशेष-विशेष प्रयोजनकी सिद्धिके लिये विशेष-विशेष-रूपमें भगवान्‌की आराधना की जाती है। ज्ञान-प्राप्तिके लिये ऋषियोंमें, ऐश्वर्य-वीर्यभोगकी प्राप्तिके लिये देवताओं-में, वंश-परम्पराकी वृद्धि एवं सांस्कृतिक सम्पदाकी रक्षाके लिये पितरोंमें परमेश्वरकी ही पूजा की जाती है, इसीसे श्राद्ध-तर्पण आदिकी भी संगति लग जाती है। भागवत धर्म सनातन-धर्म ही है, उससे पृथक् कोई अलग धर्म नहीं है। यह किसी आचार्य-विशेषके द्वारा चलाया हुआ केवल अपने अनुयायियोंके लिये नहीं, प्रत्युत भगवान्‌में बनी-बनायी निखिल-विश्व-सृष्टिके लिये है। अतः यह विश्व मङ्गलकारी एवं सबके लिये अनुष्ठेय है।

घर प्रभुका मंदिर

आजका मनुष्य न तो घर छोड़ सकता है और न ही घरमें शान्ति प्राप्त कर सकता है। घरमें लड़के-लड़की आज्ञा नहीं मानते, इस भारी क्लेशके होते हुए भी मनुष्य तो घरमें ही रहता है। भागवतकी कथा ऐसे ही घर-लोलुप मनुष्योंके कल्याणार्थ कही गयी कथा है।

कलियुगका मनुष्य चाहे ज्ञानकी बातें करे, किंतु उन बातोंके अनुसार आचरण करके घरका त्याग नहीं कर सकता। जिसे संसारके सुखमें ही मिठास दिखायी देती है, वह घर छोड़कर ब्रह्म-चिन्तनमें अपना मन नहीं लगा सकता है। ऐसी परिस्थितिमें मानवको कल्याण-मार्गमें लगानेके लिये भागवत कहता है, 'तुम चाहे घर मत छोड़ो, किंतु प्रत्येक वस्तु प्रभुको अर्पित करके प्रसादीके रूपमें ग्रहण करोगे तो कर्मके बंधनमें नहीं बँधोगे।'

व्रजसुन्दरियोंके भगवान्

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

श्रीश्रीव्रजसुन्दरियोंको निविड़ अरण्यमें छोड़कर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र अन्तर्धान हो गये। वे सब विरहके आवेशमें अपने प्राणप्रियतमको खोजने लगीं। खोजते-खोजते कृष्णमय बन गयीं। तदनन्तर श्रीकृष्ण-दर्शन-लालसासे कातर होकर प्रलाप करने और फूट-फूटकर रोने लगीं। ठीक इसी समय श्यामसुन्दर उनके बीचमें मधुर-मधुर मुसकराते हुए प्रकट हो गये। उनका मुखकमल मन्द-मन्द मुसकानसे खिला हुआ था। पीताम्बर धारण किये हुए थे। गलेमें दिव्य वनमाला थी। उनका सौन्दर्य समस्त विश्वप्राणियोंके मनको मथनेवाले कामदेवके मनको भी मथनेवाला था। वे साक्षात् 'मन्मथ-मन्मथ' थे। करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर मधुर मनोहर श्यामसुन्दरको अपने बीचमें पाकर व्रजसुन्दरियोंके प्राणहीन शरीरोंमें मानो दिव्य प्राण लौट आये। उनके नेत्र आनन्द और प्रेमसे खिल उठे। हठात् प्रियतमके प्राकट्यसे उनके हृदयमें नवीन स्फूर्ति आ गयी। उनके एक-एक अङ्गमें नवीन चेतना जाग उठी। उन्होंने अपने-अपने मनके अनुसार प्रियतमकी आवभगत की। किसीने उनके कोमल कर-कमलको अपने हाथोंसे पकड़ लिया, किसीने चरणारविन्दका आलिङ्गन किया, किसीने चरण पकड़कर अपने हृदयपर रख लिया, किसीने उनका चबाया हुआ पान ग्रहण किया, किसीने प्रणयकोपसे विह्वल होकर, त्यौरी चढ़ाकर दूरसे ही भ्रुकुटिपूर्ण कटाक्षपात किया और कोई-कोई निर्निमेष नेत्रोंके द्वारा उनके मनोहर मुखकमलका मधुर मकरन्द पान करने लगीं। उनका रोम-रोम खिल उठा। इस प्रकार विरहताप प्रशमित होनेपर वे अपने प्राणधन श्यामसुन्दरको घेरकर बैठ गयीं। अब फिर हास्य-कौतुक आरम्भ हुआ। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र बड़े निष्ठुर हैं—बड़े छलिया हैं, यह बात उन्हींके मुखसे कहलानेके लिये व्रजसुन्दरियोंने मानो एक पहेली-सी रखकर उनसे पूछा—

> भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्।
> नोभयांश्च भजन्त्येक एतन्नो ब्रूहि साधु भोः॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३२ । १६)

'श्यामसुन्दर! कुछ लोग तो ऐसे होते हैं, जो भजनेवालोंको ही भजते हैं—प्रेम करनेवालोंसे ही प्रेम करते हैं, कुछ लोग न भजनेवालोंको भजते हैं—प्रेम न करनेवालोंसे भी प्रेम करते हैं। तीसरे प्रकारके कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो भजनेवालोंको भी नहीं भजते—प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करते, फिर न करनेवालोंसे न करें, इसमें तो बात ही कौन-सी है। प्रियतम! बताओ, इन तीनोंमें तुम्हें कौन-सा अच्छा लगता है?' व्रजसुन्दरियोंके कहनेका तात्पर्य यह था कि इन तीनोंमें तुम किस श्रेणीके हो—यह स्पष्ट कहो।

इसके उत्तरमें आनन्दकन्द नन्दनन्दन श्यामसुन्दरने कहा—

> मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते।
> न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा॥
> भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यथा।
> धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः॥
> भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।
> आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः॥
> नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
> भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
> यथाधनो लब्धधने विनष्टे
> तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद॥
> एवं मदर्थोज्झितलोकवेद-
> स्वानां हि वो मय्यनुवृत्तये बलाः।
> मया परोक्षं भजता तिरोहितं
> मासूयितुं मार्हथ तत् प्रियं प्रियाः॥
> न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
> स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
> या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
> संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३२ । १७–२२)

भगवान्‌ने कहा, 'मेरी प्रिय सखियो ! जो भजनेपर ही भजते हैं—प्रेम करनेपर ही प्रेम करते हैं, उनका तो सारा उद्यम ही सर्वथा स्वार्थपूर्ण है, उनमें न सौहार्द है और न तो धर्म ही है । निरा बनियापन है—लेन-देन है, स्वार्थके अतिरिक्त उनका और कोई भी प्रयोजन नहीं है । जो लोग भजन न करनेपर, प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, जैसे स्वभावसे ही करुणामय सज्जन और माता-पिता, उनका हृदय सौहार्दसे भरा होता है । उनका प्रेम सचमुच निर्मल है और वहाँ धर्म भी है । जो लोग भजन करनेपर भी नहीं भजते, प्रेम करनेपर भी प्रेम नहीं करते, फिर न प्रेम करनेपर प्रेम करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है । ऐसे उदासीन लोग चार प्रकारके होते हैं—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ और गुरुद्रोही । सखियो ! यदि तुम मेरे सम्बन्धमें पूछती हो तो मैं इन तीनों-(सापेक्ष, निरपेक्ष और उदासीन-) मेंसे कोई-सा भी नहीं हूँ । मैं यदि प्रेम करनेवालोंसे कभी वैसा प्रेमका व्यवहार नहीं करता तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं उनसे प्रेम नहीं करता । मैं ऐसा इसीलिये करता हूँ कि उनकी चित्तवृत्ति मुझमें लगी रहे । मैं मिलकर फिर जब छिप जाता हूँ तो भक्तोंकी वृत्ति मुझमें सारूप्य प्राप्त कर लेती है । जैसे किसी निर्धन मनुष्यको बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय धनकी चिन्ता करते-करते धनमय हो जाता है, वह सब कुछ भूलकर उसीमें तन्मय हो जाता है । वैसे ही मेरे छिप जानेपर भक्त मुझमें तन्मय हो जाते हैं । प्रियाओ ! तुमलोगोंने अपनी समस्त वृत्तियोंको मुझमें अर्पण करके मेरे लिये लोकमर्यादा, वेदमार्ग और अपने आत्मीय स्वजनोंको भी छोड़ दिया है । यहाँ मैं इसलिये छिप गया था कि तुम्हारे मनमें अपने सौन्दर्य और सुहागकी बात न उठ सके, तुम्हारा मन केवल मुझमें ही लगा रहे । मैं प्रत्यक्षमें नहीं दीखता था, पर था तो तुम्हारे बीचमें ही । तुम्हारे प्रेमकी सारी दशाएँ देख रहा था । तुम्हारे प्रेममें निमग्न हो रहा था । अतएव तुम मुझपर दोषारोपण मत करो । तुम सब मुझे बड़ी प्रिय हो और मैं तुम्हारा प्यारा हूँ । तुम्हारा प्रेम सर्वथा निर्मल है—इसमें कहीं भी स्वार्थका गन्ध नहीं है । तुमने मेरे लिये गृहस्थीकी उन बेड़ियोंको तोड़ डाला है, जिन्हें बड़े-बड़े समर्थ लोग भी नहीं तोड़ सकते । यदि मैं दैव-शरीरसे—अमर-जीवनसे अनन्त कालतक भी तुम्हारे प्रेम, त्याग और सेवाका बदला चुकाना चाहूँ तो नहीं चुका सकता । मैं सदाके लिये तुम्हारा ऋणी हूँ । तुम अपने सौम्य स्वभावसे ही मुझे उऋण कर सकती हो । मैं तो ऋण चुकानेमें असमर्थ ही हूँ ।'

श्रीव्रजसुन्दरियोंके प्राणधन भगवान् लेन-देन करनेवाले व्यापारी नहीं हैं । प्रह्लादको वरका प्रलोभन देनेपर प्रह्लादने श्रीभगवान् नृसिंहदेवसे कहा था—'जो सेवक आपसे अपनी कामनाएँ पूर्ण कराना चाहता है, वह सेवक नहीं, निरा व्यापारी है (**न स भृत्यः स वै वणिक्**) और जो सेवकसे सेवा करानेके लिये, उसका स्वामी बननेके लिये उसकी कामनाएँ पूरी करता है, वह स्वामी नहीं ।' भगवान्‌ने गीतामें जो कहा है—

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ॥
(४ । ११)

—कि जो मुझे जैसे भजता है, उसे मैं वैसे ही भजता हूँ, यह तो साधारण नियम है । प्राणिमात्रके साथ भगवान्‌का यही व्यवहार है । पर यहाँ तो श्रीभगवान्‌ने इसको केवल स्वार्थ-पूर्ण उद्यम बतलाया है; क्योंकि इसमें स्पष्ट ही एक 'अपेक्षा' है । जहाँ अपेक्षा है, वहीं शर्त है और शर्तमें न स्वतन्त्रता है और न हृदयका एकाङ्गीभाव ही । खरीदार और बेचनेवाला दोनों जैसे स्वार्थकी 'अपेक्षा'से मिलते हैं, इसमें भी वैसा ही है । पर व्रजसुन्दरियोंके या भक्तोंके भगवान् अपने भक्तोंके साथ 'किसी स्वार्थके उद्यम'से प्रेम नहीं करते । उनका

पारस्परिक भजन या प्रेम सर्वथा अहैतुक, अतएव प्रेम-मूलक और प्रेमस्वरूप ही होता है।

श्रीव्रजसुन्दरियोंके (प्रेमी भक्तोंके) भगवान् माता-पिताकी भाँति केवल करुणामय 'निरपेक्ष' प्रेमी भी नहीं हैं। माता-पिता स्नेहवश संतानके दोषोंको ढक देते हैं। उनकी करुणा—दया संतानको कभी उदास नहीं देख सकती, इसलिये संतानमें दोष रह जानेकी सम्भावना रहती है। भगवान् अपने भक्तको सर्वथा निर्दोष—सारा कूड़ा-कर्कट जलाकर खरा सोना बना देते हैं। अतएव वे न तो वणिकोंकी भाँति सापेक्ष हैं, न माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष।

भक्तोंके भगवान् 'आत्माराम' भी नहीं हैं। आत्मारामगण अपने स्वरूपमें मस्त रहते हैं। उनकी दृष्टिमें जगत्का कोई महत्त्व नहीं है, फलतः वे जगत्से उदासीन रहते हैं। ऐसे आत्मारामके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है—**'तस्य कार्यं न विद्यते।'** (गीता ३। १७) परंतु भगवान् तो अपने भक्तके लिये कार्य करते-करते कभी थकते ही नहीं। उनका कार्य कभी पूरा होता ही नहीं। वे अमर-जीवनमें भक्तका कार्य करते रहनेपर भी कभी कामको पूरा हुआ नहीं मानते।

भक्तोंके भगवान् 'आप्तकाम' भी नहीं हैं। आप्तकाम वे होते हैं, जिनकी सारी कामनाएँ पूर्ण हुई रहती हैं, जिन्हें किसी वस्तुकी वासना-कामनाकी गन्ध भी नहीं रहती। परंतु भक्तोंके भगवान् तो भक्तके प्रेमपूर्वक अर्पण किये हुए पत्र-पुष्प, फल-जल, यहाँतक कि चिउरोंकी कनियोंतकके लिये लालायित रहते हैं और कई दिनोंके भूखे प्राणीकी तरह आँगनमें बिखरे हुए कणोंको चुन-चुनकर खा जाते हैं। वे व्रजसुन्दरियोंके साथ रसमयी रासक्रीड़ाकी कामना करते हैं। मुरलीमें मधुर स्वर भरकर उनको अपने समीप बुलाते हैं। वात्सल्यमयी यशोदामैयाका स्तनपान करनेके लिये मचल-मचलकर रोते हैं और व्रजसुन्दरियोंके घरोंका माखन-दही चुरा-चुराकर भोग लगाते हैं।

भगवान् कृतघ्न भी नहीं हैं। वे एक बार प्रणाम करनेवालेके सामने भी सकुचा जाते हैं—**'सकुचत सकृत प्रनाम किएहूँ'**, फिर भक्तकी तो बात ही क्या है। वे उसके तो अधीन ही हो जाते हैं। श्रीदुर्वासाजीसे भगवान्ने कहा है—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६३)

'दुर्वासाजी! मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मेरे साधु-स्वभावके भक्तोंने मेरे हृदयपर अपना अधिकार कर लिया है। वे मुझसे प्यार करते हैं और मैं उनसे।' अतएव भगवान् सदा ही कृतज्ञ हैं। कृतज्ञ कभी उदासीन नहीं होता।

आत्माराम और आप्तकाम भी उदासीन होते हैं परंतु उनकी उदासीनता दूषित नहीं होती। वह तो उनके स्वरूपकी शोभा है। पर कृतघ्न और गुरुद्रोहीकी उदासीनता बड़ी भीषण होती है। इनमें भी गुरुद्रोही सबसे बढ़कर हैं। जो लोग मजेमें दूसरोंका माल उड़ाकर गर्वसे मूँछोंपर ताव देते हैं, उनसे भी वे अधिक बुरे हैं जो उपकारियोंके साथ द्रोह करते हैं। श्रीभगवान् ऐसे गुरुद्रोही नहीं हैं। वे भक्तोंका उपकार मानते हैं और अपनेको उनके सामने ले जानेमें भी सकुचाते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी भक्त हनुमान्से कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥

इससे सिद्ध है कि भगवान् किसी भी श्रेणीके उदासीन भी नहीं हैं। तो वे क्या हैं? वे हैं व्रजसुन्दरियोंके ऋणी—वैसे भक्तोंके चिरऋणी! वे सर्वसमर्थ सर्वैश्वर्य-

परिपूर्ण होकर भी उनका बदला नहीं चुका सकते, अतएव वे अपेक्षासे प्रेम नहीं करते। वे सबके 'माता-धाता-पितामह' होकर भी माता-पिताकी भाँति निरपेक्ष रहकर भक्तमें कोई दोष नहीं रहने देते। वे नित्य आत्माराम होकर भी उदासीन नहीं रह सकते। वे नित्य आप्तकाम होकर भी निष्काम नहीं करते। वे अपने सहज उपकारोंसे सबको कृतज्ञ करनेवाले होकर भी स्वयं कृतज्ञ होते हैं और वे एकमात्र जगद्गुरु होनेपर भी श्रीव्रजसुन्दरियोंको—श्रीराधारानीको अपना प्रेम-गुरु मानते हैं और उनसे कभी द्रोह नहीं करते।

यह है परमप्रेमसुधासागर आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रका अपने मुँहसे दिया हुआ आत्मपरिचय! भगवान्‌ने स्वयं श्रीउद्धवजीसे कहा है—

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १५)

'उद्धव! मुझे तुम-जैसे प्रेमी भक्त जितने प्रिय हैं, उतने प्रिय मेरे पुत्र ब्रह्मा, मेरे आत्मस्वरूप शंकर, मेरे भाई बलरामजी और मेरी अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी भी नहीं हैं। और तो क्या, मेरा अपना आत्मा भी मुझे उतना प्रिय नहीं है।'

उद्धव-संदेश

(१०)

(लेखक—डॉ० श्रीमहानामव्रतजी ब्रह्मचारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

(अनुवादक—श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)

(गताङ्क ८, पृ० सं० ७३४ से आगे

अर्जुन श्रीकृष्णको सखा कहकर पुकारते थे, उनसे सख्यरसद्वारा ही प्रेम करते थे। विश्वरूप दर्शनसे—कृष्णके विराट् ऐश्वर्यके कणमात्रके दर्शनसे—उनका सख्यभाव शिथिल हो गया था। सख्यरसके शिथिल होते ही गौरव-बुद्धिका उदय हो गया था। तभी अर्जुनने विश्वरूपसे क्षमा-याचना की थी।

वसुदेव-देवकीका भी श्रीकृष्णपर वात्सल्य भाव था। कंशवधके ऐश्वर्य-दर्शनसे वह भाव शिथिल हो गया था। कंशवधके उपरान्त जब कृष्ण-बलराम वसुदेव-देवकीको प्रणाम करने पहुँचे, तो वे अपने पुत्रोंका प्रणाम-ग्रहणका साहस नहीं कर सके। इतनी दीर्घ विरह-अवधिके बाद भी पुत्रोंको समीप पाकर भी वे उनका दुलार नहीं कर सके।

उद्धवने सोचा था—श्रीकृष्ण भगवान् हैं, यह सत्य यदि नन्दराजके हृदयमें प्रवेश करा सके तो उनका कृष्ण-वात्सल्य अवश्य दुर्बल हो जायगा और यह दारुण विरह-विलाप कम हो जायगा। किंतु अब अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर उद्धवने देखा कि उन्होंने जैसा सोचा था, वह बात होनेवाली नहीं है। कृष्णके भगवत्व-श्रवणसे नन्दराजका वात्सल्य-स्नेह शिथिल तो हुआ ही नहीं, वरन् और भी गाढ़ हो गया। गोपराजका कृष्ण-वात्सल्य इतनी ऊर्ध्वभूमिपर अवस्थित है कि उद्धवके मुखसे उच्चारित महान् तत्त्व-ज्ञान उसकी ऊँचाईको छू भी नहीं सका।

अनुराग तरल अवस्थामें हो तो उसमें ऐश्वर्यबुद्धि प्रवेश कराकर सम्बन्ध-ज्ञानको शिथिल किया जा सकता है, किंतु अनुराग यदि गाढ़ा हो तो ऐसा करना सम्भव नहीं है। जल तरल है, बोलकर ही उसमें हाथ डुबोया जा सकता है। किंतु वही जब हिमखण्डके स्वरूपमें हो तो ऐसा नहीं किया जा सकता, तब उसमें लोहेकी

कील ही प्रवेश करा सकते हैं। किंतु लोह-खण्डकी गाढ़ता और भी उच्चस्तरकी होती है, इसलिये उसमें कोई भी वस्तु प्रवेश नहीं करायी जा सकती।

जहाँ कृष्ण-प्रीति तरल है, वहीं अन्य भावनाका प्रवेश सम्भव है। श्रीकृष्ण विराट् भगवान् हैं, यह ज्ञान अर्जुनकी सख्य-प्रीतिमें और वसुदेव-देवकीकी वात्सल्य-प्रीतिमें प्रवेश करानेका यथेष्ट अवकाश था। इसी हेतु उनका कृष्ण-सम्बन्ध-ज्ञान उस ऐश्वर्य-ज्ञानके सम्मुख दुर्बल हो गया था। किंतु नन्द-यशोदाकी कृष्ण-प्रीति इतनी प्रगाढ़ है कि उसमें अन्य भावना या ज्ञानका यत्किंचित् प्रवेश भी सम्भव नहीं है। इसीलिये उद्धवका महान् तत्त्व-कथा-पूर्ण-भाषण नन्दराजके कर्णोंमें प्रवेश करके भी उनके हृदयकी अनुराग-भूमिका स्पर्श करनेमें भी पूर्णतः अक्षम रहा। श्रीकृष्णके प्रति एतादृश प्रगाढ़ प्रेमके सम्बन्धमें उद्धवको कतई ज्ञान या अनुभव नहीं था। वह श्रीकृष्णको भगवान् जानकर ही उनकी भक्ति करते हैं। भगवान्को भगवान् जानकर भक्ति करना अच्छी बात ही है, किंतु आश्चर्यकी बात तो यह है कि इसीलिये वह भक्ति घन नहीं हो पाती। नन्दराजने कृष्णको परम प्रेमसे पुत्र बोलकर ही अपना लिया है। अब वह पुत्र भगवान् है—'यह श्रवण करके भी उनके अनुरागकी गाढ़तामें कोई लघुता नहीं आने पायी।

भगवान्को भगवान् जानकर भक्ति करना ही शास्त्रीय विधि है। उद्धवकी कृष्णभक्ति शास्त्रीय विधिके अनुसार थी। नन्दराजकी कृष्ण-प्रीति शास्त्रविधिसे उर्ध्वस्तरपर स्थित थी। उद्धवकी कृष्ण-प्रीतिके पात्र भगवान् हैं। नन्दराजकी कृष्ण-प्रीतिका कोई हेतु नहीं है, वह अहैतुकी व स्वयंसिद्ध है। चक्रवात रेखा जिस प्रकार दूरसे देखी तो जा सकती है, किंतु कभी भी हाथसे स्पर्श नहीं की जा सकती, उसी प्रकार नन्दराजके कृष्णानुरागको उद्धव बुद्धिद्वारा समझ तो पा रहे थे, किंतु हृदयद्वारा उसका स्पर्श करनेमें सम्पूर्णरूपसे अक्षम सिद्ध हुए थे। उद्धव अपनी इस अक्षमताके प्रति सजग हो उठे। उसके शिखरतक कभी भी चढ़ न सकेंगे, जानकर कांचनजंघा दर्शन करके हम विस्मयान्वित हो जाते हैं। नन्दराजका अनुराग-दर्शन कर भक्तश्रेष्ठ उद्धव इसलिये विस्मयाविष्ट हो गये; क्योंकि उनको अपनी इस अक्षमताका अनुभव हो रहा था कि उस प्रीतिके शिखरपर वह कभी भी आरोहण नहीं कर सकेंगे। उद्धव समझ गये कि नन्दराजको सान्त्वना प्रदान-हेतु मुख खोलनेमें ही उनकी धृष्टता हो गयी है।

उद्धव अब और क्या कहें? बोले—'नन्दराज! यह क्षोभका ही विषय है कि मेरे सदृश अयोग्य व्यक्ति आप सरीखे कृष्ण-प्रेमिकको सान्त्वना-वाक्य कहनेकी चेष्टा कर रहा है। आपको मैं जो उपदेश-वाक्य बोल गया हूँ, वह मेरी तरफसे नितान्त धृष्टताका कार्य हुआ है। अपनी धृष्टताके लिये मुझे अत्यन्त खेद हो रहा है। अब मैं आपको और प्रबोध-वाक्य नहीं, अपने प्राणोंके ऐकान्तिक अनुभवकी बात ही कहूँगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि श्रीकृष्णने व्रजमें न आनेकी प्रतिज्ञा भी कर ली हो तो भी उन्हें अविलम्ब अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग ही करनी पड़ेगी। मेरा निश्चित मानना है कि श्रीकृष्ण एकमात्र प्रेमके ही अधीन हैं। आपलोगोंका उनके प्रति यादृश अनुराग है, उसके फलस्वरूप वे वृन्दावन आये बिना कतई नहीं रह सकेंगे। आपलोगोंका स्नेह-पारिपाट्य ही उनको आकर्षित करके आपलोगोंका अभीष्ट साधन करायेगा—

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः॥
(१०।४६।३४)

नन्दराज आपको और एक बात कहूँ। आप इतने अधिक कातर न होवें, सर्वप्रकार विवेचनापूर्वक जरा

धैर्य रखें। व्रजवासियोंमें आप ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। यदि आप ही इतने धैर्यच्युत होंगे तो फिर अन्य लोगोंको सान्त्वना कौन देगा? आप जिन्हें नन्हा गोपाल ही मान रहे हैं, वे ही निखिल जीवसमूहके एकमात्र परमाश्रय हैं।

नन्दराजके साथ कृष्ण-विषयक बातचीत करते-करते ही सारी रात्रि बीत गयी। कोई भी शय्यापर लेटा नहीं। ब्राह्ममुहूर्त उपस्थित होनेपर उद्धव स्नान-पूजा करनेके लिये घरसे बाहर निकले। बाहर पहुँचते ही कर्णोंमें गोपपल्लीकी दधिमन्थन-ध्वनि सुनायी पड़ने लगी।

व्रजमें कुछेक गोपियाँ ऐसी हैं, जिनका कृष्णानुराग विश्रम्भप्रधान है अर्थात् उन्हें बार-बार कृष्णस्फूर्ति होती रहती है। दिवारात्रिके अधिकांश समय ही उन्हें मालूम पड़ता है, मानो कृष्ण व्रजमें उनके संगमें ही हैं। इसीलिये वे शय्या-त्याग करते ही गोपालके लिये दधि-मंथन-कार्यमें वैसे ही प्रवृत्त हो जाती हैं जैसे कि कृष्णके व्रजमें रहते समय हुआ करती थीं। इसके अतिरिक्त कुछ गोपमाताओंके प्रति नन्दराजका प्रत्यह प्रातःक्षीर-नवनीत तैयार करनेका आदेश है ताकि वह क्षीर-नवनीत नित्य भृत्यके साथ मथुरा भेजा जा सके। प्रत्यूषकालमें ऐसी आदेश-प्राप्ता सब जननियाँ भी दधिमन्थन-कार्यमें नियुक्त रहती हैं। जो गोपियाँ दधिमन्थन कर रही थीं उनके हाथोंमें थे मणिखचित कङ्कण। समीपमें ही जो प्रदीप जल रहे थे उनका प्रकाश मणिकङ्कणोंमें प्रतिफलित होकर कङ्कणोंकी दीप्तिको उज्ज्वलतर कर रहा था। **'दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजुः'** (१०। ४६। ४५)। उनके वक्षःस्थलपर शोभायमान हार एवं कर्णकुण्डल मन्थन-रज्जुके आकर्षण-हेतु दोलायमान होकर चंचल हो रहे थे। अरुणवर्ण कुंकुमसे उनके गण्डस्थलोंपर अरुणिम आभा छिटक रही थी। उसके बीच दोदूल्यमान मणि-कुण्डलोंकी छटा अत्यन्त नयनाकर्षी हो रही थी। मन्थन-चञ्चला गोपवधुओंकी छाया दीवालोंकी स्फटिक-भित्तिपर सम्पतित हो रही थी। ऐसी अद्भुत शोभा देखते-देखते उद्धव स्नान-हेतु यमुनाके घाटपर पहुँच गये।

उद्धवके गलेमें थी वैजयन्तीमाला, स्वयं गोविन्दने यात्रा-समय अपने गलेकी माला उतारकर उद्धवको पहना दी थी। उद्धवके अङ्गोंपर शोभित अन्यान्य परिच्छद भी या तो श्रीकृष्णके प्रसाद हैं या स्वयं उनके हाथों पहनाये हुए हैं। उद्धव नहीं चाहते थे कि ये सब जलसे सिक्त हों, इसीलिये इन्हें अपने शरीरसे उतारकर तीरपर सुरक्षित रख दिया और स्नान-हेतु यमुना-जलमें प्रविष्ट हुए। स्नानके उपरान्त तीरपर सुखासनसे उपविष्ट होकर अपने आह्निक कृत्यमें लग गये। तब भी कानोंमें दधिमन्थनकी ध्वनिके साथ करुण स्वर-लहरी मिश्रित होकर प्रवेश कर रही थी।

दधिमन्थनके समय व्रजाङ्गनाएँ प्रेमावेशमें उच्चस्वरसे गा रही थीं। गानकी विषय-वस्तु थी प्राण-गोविन्दका रूप, गुण, सौन्दर्य और माधुर्य। विरह-वेदना-भरे कण्ठसे स्वरकी जैसी मधुरिमा बिखर रही थी, उसे सुनकर स्वर्गके किन्नर, गन्धर्व और विद्याधर भी स्वयंको हीन समझकर लज्जित हो रहे थे। कण्ठ-ध्वनि और मन्थन-ध्वनि परस्पर आलिंगनबद्ध होकर गगन-मण्डलमें तुमुल नादकी सृष्टि कर रहे थे। विश्वके समस्त लोकोंके कर्णमें प्रवेश करता यह नाद दशों दिशाओंका अमङ्गल दूर कर रहा था—

'निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्' (१०। ४६। ४६)

नित्यकर्म करते-करते उद्धव कृष्णानुरागिणी गोपियोंके कण्ठोंसे निस्सृत मधुर कृष्णनाम-ध्वनि श्रवण कर रहे थे। उस मधुर ध्वनिको सुनकर उद्धव इस सीमातक आत्म-चेतनाशून्य हो गये थे कि उनकी जिह्वासे सन्ध्यावन्दनादिके मन्त्रादि भी स्फुरित नहीं हो रहे थे। उन्हें पुनः-पुनः ऐसा लग रहा था कि गोपी-कण्ठोंकी वह गीत-ध्वनि

उनके द्वारा उच्चारित मन्त्रोंकी अपेक्षा कोटिगुण मधुर और मङ्गलप्रद है ।

किसी भी प्रकारसे नित्यकर्म-समापन करके भक्तराज उद्धव तीरपर आकर कृष्णप्रसादी वस्त्र व माल्यादि पुनः धारण करने लगे । उस समय प्रभात हो चला था । व्रजकी वृक्षलताओंपर सूर्यका किरण-सम्पात हो रहा था । कुछ नर-नारी बाहर मैदानमें आ-जा रहे थे और नन्दद्वार-पर विराट् रथ देखकर वे वार्तालाप कर रहे हैं ।

'दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन्' ।
(श्रीमद्भा० १० । ४६ । ४७)

इतना बड़ा स्वर्णरथ ! यह तो किसी ग्रामवासीका नहीं है । इस व्रजपल्लीमें तो गो-शकट हैं, यहाँ इतना बड़ा रथ कहाँसे आवे ? कोई बोली—अरी ! इस रथको नहीं पहचानती, यह तो राजधानी मथुराका रथ है । कहते-कहते बोलनेवाली गद्गद्कण्ठ हो गयी । दूसरी गोपी बोली—'अरी, मथुराका रथ नहीं पहचानेगी ? मथुराके रथका पहिया तो हमारे वक्षके ऊपरसे निकल गया था । मथुराके रथ-चक्रको पकड़कर न जाने कितने आँसू बहाये हैं । मथुराके रथचक्रके चिह्न व्रजकी मिट्टीपर और व्रजवासियोंके वक्षःस्थलपर आज भी अक्षुण्ण रूपसे विद्यमान हैं ।

एक अन्य गोपी बोली—अहो, क्या यह वही रथ है, जिसपर आरूढ़ होकर कंसका अर्थ-साधक अक्रूर आया था और व्रजके वक्षसे छीनकर कमलनयनको मथुरा ले गया था ? इस प्रकार उस रथको देखकर सभी गोपियाँ आकुल-व्याकुल होकर तरह-तरहकी बातें कहने-सुनने लगीं ।

किसी गोपीने प्रश्न उठाया—'वही रथ व्रजमें फिर क्यों आया है ? इस पल्लीमें वह अभिशप्त रथ फिर किस उद्देश्यसिद्धि-हेतु दिखायी पड़ा है ? यहाँ तो पहलेसे ही सब मरे पड़े हैं, फिर मृतकोंकी इस श्मशानभूमिमें क्रूर-शिरोमणि अक्रूरका रथ क्यों आया है ? एक दूसरी गोपीने उत्तर दिया—'मृतकोंकी श्मशानभूमिमें अक्रूरके पुनरागमनका हेतु मैं बताती हूँ, सुन; जानती हो न, उसका स्वामी नीच कंस मर गया है । कोई मनुष्य मर जाय तो बाकी रहता है श्राद्ध व प्रेतकार्य । श्राद्ध-कार्यमें पिण्डदान करना होता है, उस पिण्ड-हेतु ही अक्रूर यहाँ आया है ! अक्रूरको तो यह ज्ञात है कि वह वृन्दावनके सब नर-नारियोंको मृतप्राय कर गया है । इसलिये कंसके श्राद्धमें पिण्डदान-हेतु वह इतने मृत प्राणियोंके हृत्पिण्ड निकालकर ले जानेके लिये ही यहाँ आया है ! इसके अतिरिक्त कंसकी राजधानीके रथके इस पल्ली-श्मशानमें आनेका अन्य क्या हेतु हो सकता है ?

आलोचनारत व्रजाङ्गनाओंकी इस हृदय-विदारक वार्तालापके शब्द उद्धवके कर्णोंमें पहुँचे । उद्धवने व्यथित प्राणोंके इतने आर्ति-परिपूर्ण शब्द, इतनी हृदय-विदारक वाणी आजतक अपने कर्णोंसे कहीं नहीं सुनी थी । इस वार्तालापके माध्यमसे विरह-विधुरा गोपियोंके हृदयमें जो जलन है, उसकी किंचित् आँच उद्धवतक पहुँची । उद्धवको लगा कि उन्हें व्रजमें तो यहाँकी रजमें लोटते-पोटते ही आना चाहिये था । रथमें सवार होकर यहाँ आना उचित कार्य नहीं हुआ । फिर एक विचार उठा कि इस विरह-व्याकुल व्रजमें तो वह नितान्त असुन्दर लगते हैं, उनका यहाँ आना ही अशोभनीय कार्य हुआ है । उनकी इच्छा हुई कि यदि धरित्रीदेवी अभी विदीर्ण हो जायँ तो वे इस रथसमेत भू-विवरमें प्रवेश करके किसी प्रकार इस असुन्दरताको दूर कर देते । अपराध-संकुचित उद्धवके मनको इस प्रकारकी विविध भावनाएँ उद्वेलित करने लगीं ।

साधकोंके प्रति--

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

अन्य न हो, उसको अनन्य कहते हैं। एक तरफ तो संसार है और एक तरफ भगवान् हैं। संसार और भगवान्के बीचमें जीवात्मा है। तो संसारमें रुचि न रहकर केवल भगवान्में रुचि होनेका नाम अनन्य भक्ति है। संसारमें भी रुचि हो और भगवान्में भी रुचि हो, यह अन्य भक्ति है, अनन्य भक्ति नहीं। संसारको भी चाहता है और भगवान्को भी चाहता है तो **'दुविधामें दोनों गये माया मिली न राम'**; क्योंकि संसार तो टिकेगा नहीं अर्थात् स्थायीरूपसे रहेगा नहीं और भगवान्को लेते नहीं। जिसको लेते हैं, वह तो रहता नहीं और जो रहता है, उसको लेते नहीं—यह दशा है हमारी! इसलिये जो रहे उसीको ले और जो न रहे उसको न ले—यह अनन्य भक्ति है।

मनुष्य-जन्मका ध्येय महान् आनन्दको प्राप्त कर लेना और दुःखोंसे सर्वथा रहित हो जाना है। दुःख तो वहाँ कोई पहुँचे नहीं और आनन्द, शान्ति, प्रसन्नता, खुशी आदि कोई बाकी रहे नहीं। इसके लिये गीताके छठे अध्यायका बाईसवाँ श्लोक बहुत कामका है। इसमें दो बातें बतायी गयी हैं—**'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः'** जिस लाभकी प्राप्ति होनेके बाद उससे और कोई अधिक लाभ होगा, यह बात उसके मनमें भी नहीं आती, और **'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'** वह जिसमें स्थित है, उससे कभी विचलित नहीं होता। बड़े भारी दुःखसे, बड़े भारी सन्तापसे, बड़ी भारी प्रतिकूल परिस्थितिसे वह विचलित नहीं होता। इतना ही नहीं, उसके शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायँ तो भी वह विचलित नहीं होता, ज्यों-का-त्यों ही मौजूद रहता है। ऐसी स्थिति प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जन्मका ध्येय है और इसी तत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर मिला है।

संसारका सुख-दुःख तो सम्पूर्ण प्राणी भोगते ही हैं। कुत्ते-गधे भी भोगते हैं, वृक्ष भी भोगते हैं अर्थात् सभी प्राणी सुखी-दुःखी होते हैं। अगर मनुष्यने केवल सुखी-दुःखी होनेमें ही समय बिता दिया तो मनुष्य-जन्म सफल नहीं होगा। नफा हो गया, नुकसान हो गया; संयोग हो गया, वियोग हो गया; आज तो मौज हो गयी, आज तो बड़ा दुःख हो गया; आज तो लाभ हो गया, आज तो हानि हो गयी—ऐसे थपेड़े तो सभी खाते हैं। देवताओंको देख लो, नरकोंके जीवोंको देख लो, चौरासी लाख योनिवाले जीवोंको देख लो, चाहे किसीको देख लो। अगर ऐसे थपेड़े मनुष्य भी खाता रहे तो यह मनुष्य-जन्मकी सफलता नहीं है; क्योंकि यह चीज (सुख-दुःख आदि) तो कहीं भी, किसी भी योनिमें मिल जायगी। कुत्ता हो जाय चाहे गधा हो जाय, सूअर हो जाय चाहे ऊँट हो जाय, वृक्ष हो जाय चाहे दूब हो जाय, यह चीज सबमें मिल जायगी अर्थात् यह चीज किसी भी योनिमें दुर्लभ नहीं है, सब जगह सुलभ है। दुर्लभ चीज तो यही है कि ऐसा सुख, ऐसा आनन्द प्राप्त हो, जिसमें दुःखका लेश भी न हो और आनन्दमें कोई कमी भी न हो। ऐसे तत्त्वकी प्राप्ति करना ही मनुष्य-जन्मका ध्येय है। इसलिये मनुष्यको सबसे पहले यह पक्का विचारकर लेना चाहिये कि उस तत्त्वको प्राप्त करनेके लिये ही मैं आया हूँ और उसको प्राप्त करना ही मेरा काम है। जो अधूरा हो और नष्ट होनेवाला हो, वह मेरेको नहीं लेना है। धन कमाऊँ तो अधूरा रह जायगा और साथमें न

*

रहेगा। मान-बड़ाई प्राप्त कर लूँ तो वह भी अधूरी रह जायगी और साथमें नहीं रहेगी। विद्या, योग्यता, अधिकार, पद आदि जो कुछ भी मिलेगा, वह सब अधूरा मिलेगा और साथ रहेगा नहीं। ये अधूरी और साथमें न रहनेवाली चीजें मेरेको नहीं चाहिये। ऐसा पक्का विचार हो जाय और केवल उस तत्त्वकी प्राप्ति चाहे, इसको अनन्यता कहते हैं।

पहले अपनी अहंता-(मैं-पन-)में अनन्यता होनी चाहिये कि मैं तो केवल उस तत्त्वको ही चाहता हूँ। जब अहंतामें यह चीज हो जायगी, तब अनन्य भक्ति होगी। मनुष्य यही सोचता है कि मैं काम करके कर्ता बनूँगा, भक्ति करके भक्त बनूँगा, ज्ञान प्राप्त करके ज्ञानी बनूँगा। यह बात भी ठीक है; पर ठीक होते हुए भी इसमें एक कमी है। वह कमी यह है कि 'मैं साधन करके साधक बनूँगा, फिर सिद्ध बनूँगा तो इसमें देरी लगेगी अर्थात् क्रियाओंके बदलनेसे भी अहंता बदलती है, पर इसमें देरी लगेगी। परन्तु मैं साधक हूँ, मेरेको तो केवल उस तत्त्वको ही प्राप्त करना है, दुनिया चाहे उथल-पुथल हो जाय, मेरेको किसीसे कुछ भी मतलब नहीं, मैं तो केवल उसी एक (तत्त्व-) का ही जिज्ञासु हूँ—यह चीज जब अहंतामें आ जायगी अर्थात् जब ऐसा पक्का विचार हो जायगा, तो उसकी सब क्रियाएँ अपने-आप बदल जायँगी। फिर वह कभी भी अपने ध्येयसे, उद्देश्यसे विचलित नहीं हो सकेगा। उसको लाखों-करोड़ों रुपये मिल जायँ, बड़ा आदर-सत्कार हो जाय, बड़ी वाह-वाह हो जाय, बड़ा भारी पद मिल जाय, सम्राट् बन जाय तो भी वह विचलित नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह यही समझता है कि इनको प्राप्त करना मेरा ध्येय नहीं है। अमुक-अमुक कर्मके करनेसे स्वर्ग मिलेगा, ब्रह्मलोक मिलेगा, बड़ा भारी सुख मिलेगा—ऐसा लालच दिया जाय तो भी वह विचलित नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह उसको चाहता ही नहीं। जैसे आजके जमानेमें जो शुद्ध खान-पानवाले आदमी हैं, उनसे कोई यह कहे कि 'यह मांस बहुत बढ़िया है', तो वे यही कहेंगे कि भाई, हमें लेना नहीं है। 'ये अण्डे बहुत बढ़िया हैं, पर हमें लेना नहीं है।' 'इस जातिकी मछली बहुत बढ़िया है', 'अरे! क्यों हल्ला करता है, हमें लेना ही नहीं है।' ऐसे ही एक निश्चयवाले साधकसे कोई कहे कि 'भाई! संसारका यह सुख बहुत बढ़िया है, आरामवाली ये चीजें बहुत बढ़िया हैं', तो वह यही कहेगा कि 'भाई! हम इस सुख-आरामके ग्राहक नहीं हैं। हमें यह सुख-आराम भोगना ही नहीं है'। 'तुम ऐसा काम करोगे तो तुम्हें इतना लाभ हो जायगा, तुम्हारे पास इतना संग्रह हो जायगा, इतना रुपया इकट्ठा हो जायगा', पर हमें संग्रह करना ही नहीं है। 'हम तुम्हें इतना रुपया दे देंगे, इतना सोना-चाँदी दे देंगे, इतने हीरे दे देंगे, तुम्हें ऊँचा पद दे देंगे, मिनिस्टर बना देंगे', 'कृपा करो बाबा! हमें यह गन्दी चीज लेनी ही नहीं है।' तात्पर्य है कि बढ़िया-घटिया जो कुछ हो, हमें लेना ही नहीं है। हमें तो एक अलौकिक परमात्म-तत्त्वको लेना है। जिसको मुक्ति, कल्याण, प्रेम-प्राप्ति कहते हैं, हमें वह लेना है। जिस तत्त्वको प्राप्त करनेके बाद कुछ भी प्राप्त करना बाकी नहीं रहता और दुःख वहाँ पहुँचता नहीं, हमें तो वह तत्त्व लेना है। और कुछ हमें लेना है ही नहीं।

सब ऐसे कैसे हो सकते हैं? ऐसे सब हो सकते हैं; क्योंकि मनुष्यमात्र उस तत्त्वका अधिकारी है। वह किसी वर्णमें हो, किसी आश्रममें हो, किसी सम्प्रदायमें हो, किसी देशमें हो, किसी वेशमें हो, कैसा ही क्यों न हो, वह उस परमात्म-तत्त्वकी प्राप्तिका पूरा अधिकारी है। परन्तु संसारके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं, धनके अधिकारी सब पूरे नहीं हैं, मान-बड़ाईके अधिकारी सब

पूरे नहीं हैं। हाँ, इनका-थोड़ा टुकड़ा-टुकड़ा मिल सकता है; पर किसीको भी पूरा नहीं मिलेगा; और वह तत्त्व सबको पूरा मिलेगा, उसका टुकड़ा नहीं होगा। अन्य योनियोंमें इस तत्त्वको प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है। मानव-शरीरमें ही भगवान्‌ने वह योग्यता दी है, जिससे सभी उस तत्त्वको प्राप्त कर सकते हैं। सांसारिक पद, अधिकार आदि दोको भी एक समान नहीं मिलेगा; परन्तु पहले जो शुकदेव मुनि हुए, सनकादि हुए, ब्रह्माजी हुए, भगवान् शंकर हुए, जीवन्मुक्त ऋषि हुए, बड़े-बड़े ज्ञानी महापुरुष हुए, उनको जो तत्त्व मिला है, वही तत्त्व आज हरेक मनुष्यको मिल सकता है, मनुष्यमात्रको मिल सकता है। पर शर्त इतनी ही है कि सांसारिक सुख और संग्रहको नापसन्द कर दे कि हमें सांसारिक सुख और संग्रह लेना नहीं है। सांसारिक सुख आ जाय, संग्रह हो जाय तो क्या करे ? जैसे अनजानमें मैलेपर पग चला जाय, टिक जाय और पग मैलेसे भर भी जाय तो क्या करें ? तो स्नान करके साफ करो। ऐसे ही संसारका सुख-आराम मिले, रुपये, सोना, हीरे, रत्न मिलें तो समझे कि मैलेपर पग टिक गया। पर उसको हमें लेना नहीं है। हम तो केवल परमात्मतत्त्वको ही चाहते हैं। इसके सिवाय हमें कुछ भी लेना नहीं है—यह अनन्य भक्ति है।

मनुष्य-शरीर प्राप्त करके अगर धन प्राप्त कर लिया, भोग प्राप्त कर लिये, मान-बड़ाई प्राप्त कर ली, तो मनुष्य-शरीर निष्फल है। धन आदिमें ही अटक गये, यहाँकी चीजोंमें ही अटक गये तो क्या मनुष्य हुए ? मनुष्यपना क्या हुआ ? क्योंकि मनुष्य-शरीर बहुत दुर्लभ है—**'दुर्लभो मानुषो देहः।'** सद्ग्रन्थोंमें यह मनुष्य-शरीर देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया है—**'बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥'** ऐसे मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके फिर केवल भोग भोग ले, रुपया इकट्ठा कर ले ! कितना कर लोगे ! अन्तमें सब किया हुआ उद्योग गुड़-गोबर हो जायगा, कुछ भी काम नहीं आयेगा। परन्तु मनुष्य उसीमें राजी हो रहे हैं कि हम यह ले लेंगे, वह ले लेंगे। क्या ले लोगे, यह कोई लेनेकी चीज है ? जिसके साथ आप नहीं रह सकते और आपके साथ वह नहीं रह सकती, इसको क्या हो लिया ? धोखा हुआ है धोखा ! विश्वासघात हुआ और कुछ नहीं हुआ, वह भी जानकर आपने किया। आपने अपने ही पैरोंमें आप ही कुल्हाड़ी मारी। अतः **'सारं ततो ग्राह्यमपास्य फल्गु'** व्यर्थ छोड़कर उस सार चीजको, उस सत्य-तत्त्वको ग्रहण करना चाहिये, जिसका कभी अभाव नहीं होता। उसको प्राप्त होनेपर महासर्गमें भी पैदा नहीं होते तथा महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते; सदा मस्ती, सदा मौज-ही-मौज रहती है—**'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च'** (गीता १४। २)। उस तत्त्वकी प्राप्ति इस शरीरके रहते-रहते थोड़े-से-थोड़े समयमें हो सकती है। उसकी प्राप्तिके लिये न किसी विद्याकी जरूरत है, न किसी योग्यताकी जरूरत है। केवल अपनी चाहनाकी जरूरत है। वह चाहना ऐसी होनी चाहिये कि मेरेको सांसारिक वस्तु आदि कुछ भी मिले, तत्त्वकी प्राप्ति किये बिना मैं उसमें ठहरूँगा नहीं। मेरेको तो वही चाहिये, दूसरा कुछ भी नहीं। अब ऐसी चाहना हो जायगी, ऐसी लगन लग जायगी तो आपको उसकी प्राप्तिकी सामग्री मिल जायगी, ग्रन्थ मिल जायगा, गुरु मिल जायगा, सब मिल जायगा। परमात्माके मौजूद रहते कौन-सी सामग्री बाकी रहेगी ? पर सब कुछ होते हुए भी मनुष्यको यह बहम रहता है कि थोड़ा

यह काम कर लें, थोड़ा वह काम भी कर लें। यों थोड़ा करते-करते खत्म हो जाओगे भाई, मिलेगा कुछ नहीं।

हमने एक कहानी सुनी थी। एक परिवारमें ब्राह्मण, ब्राह्मणी, बेटा और बहू—ये चार प्राणी थे। लड़का जवान था, पर अचानक मर गया। लड़का आँगनमें पड़ा था। लोग इकट्ठे हो गये। पर वह ब्राह्मण देवता उठकर चल दिये। लोगोंने पूछा—'कहाँ जाते हो'? उन्होंने कहा—'मैं साधु होऊँगा और भजन करूँगा।' लोगोंने कहा—'अरे! तुम्हें दया नहीं आती इनपर। जवान लड़का मर गया है। घरमें दो स्त्रियाँ हैं बेचारी। उनका पालन-पोषण कौन करेगा।' उन्होंने कहा—'पीछे इनका पालन-पोषण कौन करेगा'—इसकी चिन्ता इसने (जवान लड़केने) तो की ही नहीं और सबको छोड़कर चला गया। मैं बूढ़ा क्या चिन्ता करूँ?' लोगोंने फिर कहा—'महाराज! इसको उठाओ तो सही!' वे बोले—'इस घरमें और श्मशानमें क्या फर्क है? मेरे तो श्मशान ही घर है और घर ही श्मशान है। आप लोग इसको भले ही यहाँ रखो, वहाँ रखो, चाहे कहीं रखो। मैं तो जाता हूँ, ऐसा कहकर वे चट चल दिये।

बहुत पुरानी बात है। विक्रम संवत् उन्नीस सौ पचहत्तरकी होगी, ठीक याद नहीं। उस समय 'वेदान्त-केसरी' पत्र निकलता था। उसमें एक बात आयी थी कि बम्बईमें समुद्रके किनारे घूमते-घूमते एक आदमी किसी दीवारपर बैठ गया। इतनेमें एक जवान लड़का धोती-लोटा लेकर स्नानके लिये समुद्रके किनारे आया। उसने धोती-लोटा तो किनारेपर रख दिया और स्नानके लिये समुद्रमें उतर गया; तो उतर ही गया। वह पीछे आया ही नहीं, डूब गया। लोगोंने ढूँढ़ा तो उसकी लाश मिली। अब जो आदमी दीवारपर बैठा था, उसने यह सब देख लिया। बस वह वहाँसे ही चल दिया, न घरवालोंसे कहा और न किसीसे कुछ कहा। उसने यही विचार कर लिया कि मरते इतनी देरी लगती है तो इस शरीरका क्या भरोसा? मैं तो भजन करूँगा। उस तत्त्वको प्राप्त करना है मेरेको।

अभी पाँच-सात वर्ष पहले अखबारमें एक बात निकली थी। नागपुरमें चार युवक आपसमें बातचीत कर रहे थे कि 'कैसे साधु हो जायँ?' तो उनमेंसे एकने कहा—'कैसे क्या! ऐसे किया और हुआ। तो उन तीनोंने कहा—'तुम बन जाओ साधु।' उसने कहा—'हाँ, हम भी साधु बन जायेंगे और भजन करेंगे।' उन तीनोंने फिर कहा—'गोपीचन्द जैसे अपनी स्त्रीको 'माँ' कहकर भिक्षा ले आये थे, ऐसे ही तुम भी अपनी स्त्रीको 'माँ' कहकर भिक्षा लाओगे'? उसने कहा—'हाँ, हम भी भिक्षा ले आयेंगे। उसने वैसा ही किया और घर जाकर अपनी स्त्रीसे कहा—'माई! भिक्षा दो।' यह कैसे होता है? ऐसे होता है। विचार हो गया, तो हो ही गया। अब इधर-उधर हो ही नहीं सकता। मरनेवाला क्या मुहूर्त पूछकर मरता है? ऐसे ही एक विचार कर ले कि दुनिया भला कहे या बुरा, सुख पाये या दुःख, धन मिले या चला जाय; चाहे कुछ हो जाय, हमें तो उस तत्त्वको प्राप्त करना ही है। इसीको अनन्यता कहते हैं।

स्वामी विवेकानन्दजीकी दृष्टिमें भागवती कृपाका स्वरूप

(लेखक—श्रीतेजबहादुरसिंहजी, एम्० ए०)

जीवनपर प्रभाव

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक भारतीय चिन्तन-परम्परामें एक अध्यात्मवादी दार्शनिकके रूपमें प्रतिष्ठित हैं। रोम्याँ-रोलाँने स्वामीजीके विषयमें स्पष्ट कहा है कि 'ईश्वर एवं जगत् सबको प्राप्त करना, सबपर अधिकार करना तथा सबका परित्याग करना ही उनके जीवनका उद्देश्य था[1]।' स्वामीजीके जीवनपर उनके गुरुदेव रामकृष्ण परमहंसजीका विशेष प्रभाव लक्षित होता है। जीवनके समस्त दुःखोंकी निवृत्ति परमतत्त्वके साक्षात्कारद्वारा ही सम्भव है, जो मानव-जीवनका उद्देश्य है; यह ज्ञान उन्हें रामकृष्णसे ही प्राप्त हुआ था।

उनकी दृष्टिमें परमतत्त्व या ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे ही आविर्भूत है। तत्त्व एक है। वह अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त होता हुआ भी वस्तुतः स्वरूपतः एक ही है। सभी जीवोंमें उसकी सत्ता आधारके रूपमें विद्यमान है। इसीलिये स्वामीजीने किसी वैयक्तिक ईश्वरद्वारा जगत्‌की रचनाको निराधार कहा है। उनके अनुसार प्रकृति या परमात्माकी शक्ति ब्रह्मसे पृथक् नहीं है, बल्कि ब्रह्मका सक्रिय रूप है; अर्थात् अपने सक्रिय पक्षमें ब्रह्मको ही आदिशक्ति या भागवती-शक्तिके रूपमें जाना जाता है। वह शक्ति जगत्‌के सभी रूपोंमें, सभी जीवों एवं सभी घटनाओंके पीछे कार्य कर रही है।

भागवती कृपाशक्ति

माँके रूपमें महाशक्ति जगत्‌की धात्री-शक्ति है। अतः वह वन्दनीय है। शाक्त सम्प्रदायमें भी भगवतीकी कल्पना इस रूपमें की गयी है।[2] स्वामीजीने भी विभिन्न संदर्भोंमें इन्हीं विश्वासोंको व्यक्त करते हुए कहा है कि 'मेरा विश्वास उस एकमात्र ईश्वरमें है, जिसकी कृपा-दृष्टि सभीपर समान है, जो दीन-दुखियों, सभी जातिके निर्धनोंको अपनाता है।' 'जीवन-शक्ति, ज्ञान एवं आनन्दका जो स्रोत है; वही परम सत्ता है। उसीको हम ईश्वर कहते हैं[3]।' 'वही जगत्‌में विभिन्न नामोंसे जाना एवं पूजा जाता है। वही भागवती कृपा-शक्ति भी है, जिसकी अनुभूति व्यक्तिको आध्यात्मिक विकासके द्वारा सम्भव है और आध्यात्मिक विकासका अर्थ मन, बुद्धिसे परे होनामात्र नहीं है, प्रत्युत कैवल्य ही इस योगकी अन्तिम कोटि है। आत्माके पूर्णत्वको प्रकृतिमें प्रकट करना यानी प्राकृतिक वस्तुओंमें भी भागवती कृपाका दर्शन करना आध्यात्मिक विकासका प्रयोजन है[4]।'

भागवती कृपाशक्ति सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की एक दिव्य अन्तरंग शक्तिका नाम है। भगवान्‌का किसी जीवके प्रति अनुकूल होना ही उनकी कृपा कही जाती है। भगवान्‌की कृपा या भगवत्कृपा भागवती कृपा है। दोनों एक हैं। दोनोंमें कोई विभेद नहीं है। जिस प्रकार शिवका शक्तिसे कोई पृथक्त्व नहीं है,

---

१–रोम्याँ-रोलाँ, विवेकानन्दका जीवन और सार्वभौम सिद्धान्त, अद्वैत आश्रम, १९६०, पृ० ९।

२–या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

(श्रीदुर्गासप्तशती, गीताप्रेस)

३–रोम्याँ-रोलाँ, विवेकानन्द, अनु० सच्चिदानन्द वात्स्यायन, १९६८, पृ० ५६

४–स्वामी रामानन्द, अध्यात्मविकास, साधना कार्यालय, बीसलपुर पीलीभीत, अक्टूबर, १९४६ पृ० ५।

शिव ही शक्ति है और शक्ति ही शिव है, उसी प्रकार भगवत्कृपा या भगवतीकृपा दोनों एक हैं। उसके 'स्त्री' वाचक होनेसे कोई संदेह नहीं होना चाहिये; क्योंकि 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि' ब्रह्मका ही प्रतिपादन है। वह 'माँ' के रूपमें प्रत्येक स्त्रीके शरीरमें वास करती है। अत: विश्वकी सभी स्त्रियाँ माँके ही रूप हैं।

वार्तालापके माध्यमसे स्वामीजीने यह स्पष्ट किया है कि 'माँ' प्रत्येक स्त्रीमें निवास करती हैं। इसलिये मैं जगत्‌की सभी स्त्रियोंको 'माँ' का ही रूप मानता हूँ।[1] रामकृष्णने भी सभी स्त्रियोंमें माँका दर्शन किया है। वे कहते हैं 'हे जगन्माता! एक रूपमें तुम सड़कोंपर घूमती हो और दूसरे रूपमें तुम जगद्व्यापिनी हो। हे जगदम्बे! हे माता! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ[2]।' इस प्रकार उनके स्त्री-वाचक होनेसे कोई संदेह नहीं है, अत: भगवतीकृपा कहनेका तात्पर्य भगवान्‌से अलग किसी कृपासे नहीं है; क्योंकि भगवान्‌से पृथक् भागवतीशक्तिका कोई अस्तित्व ही नहीं है। वह भगवान्‌से संयुक्त होकर ही अस्तित्ववान् एवं शक्तिपूर्ण है।

भागवती कृपा-शक्तिका विलास लौकिक एवं पारलौकिक सभी व्यापारोंमें, आन्तर एवं बाह्य सर्वत्र व्याप्त है। उसीका स्पन्दन सर्वत्र दिखायी पड़ रहा है। चराचर विश्व ब्रह्माण्ड सब उस महाशक्तिके निःश्वाससे ही प्राणमय हो रहे हैं। जो कुछ भी हो रहा है, सब शक्तिका ही खेल है। उसीके संकेतपर जन्म, मृत्यु, बन्धन और मुक्ति होती है। शिव निर्गुण ब्रह्म होकर पड़े हैं और शक्ति ही सब लीलाएँ कर रही हैं[3]। 'माँ' ही सारी चेतना, त्रिकाल कालातीत सत्तामें विराजमान है—सभी वस्तुओंमें, सभी प्राणियोंमें सभी गुणोंमें। केवल सत्‌में ही नहीं, तममें भी वही है। वह परम सत्ता सर्वशक्तिमती भी है और सब शक्तियोंका अतिक्रमण भी करती है। जगत्‌में रहते हुए भी जगत्‌के परे है। वह हममें भी है[4]। वह सत्यस्वरूप है। 'माँ' का यथार्थ स्वरूप सत्य है।

वह त्रिगुणमयी, शुद्ध सत्त्वगुणमयी है। तीनों गुणों-(सत्, रज, तम-)से युक्त होते हुए भी उनसे परे है। यद्यपि मूलत: निर्विशेष है, पर वही गुणोंके रूपमें भी व्यक्त हो रही है। जगत्‌की समस्त वस्तुओंमें उसकी कृपाके अस्तित्वको स्वीकार करते हुए भी उसके स्वरूपका वर्णन करना असम्भव है; क्योंकि उसे पारिभाषित नहीं किया जा सकता है। वह तो स्वयं अपरिभाष्य है। उसे अपनी अनुभूतिके माध्यमसे ही जाना जा सकता है।

मूलत: धार्मिक अनुभूतिसे आप्लावित चेतनाको इष्ट मानना—भागवती शक्तिकी सद्यः आराधना करना ही भारतीय संस्कृतिकी अन्यतम विशेषता है। सभी जीवोंकी एकमात्र आराध्या होनेके कारण सभीपर उनकी कृपादृष्टि समान है। पर, सभी प्राणियोंपर भागवतीशक्तिकी कृपा समान है—इस कथनकी पुष्टि तथ्योंपर करना सम्भव नहीं दीखता। अतएव मनमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि ईश्वरकी कृपा सभी जीवोंपर समान है, तो सभी जीवोंकी नियति एक-जैसी क्यों नहीं? एक ही ईश्वरद्वारा निर्मित जगत्‌में इतना विरोध एवं विसंगति क्यों? एक व्यक्ति जन्मजात दुखी है, दूसरा जन्मजात सुखी है। एक धनी है, दूसरा गरीब है। एक मूर्ख है, दूसरा विद्वान् है। इससे इसकी सृष्टिमें पक्षपात प्रतीत

१–स्वामी विवेकानन्द, विवेकानन्द-साहित्य, सप्तम खण्ड, पृ० २५४। २–वही पृ० १५७।
३–स्वामी अपूर्वानन्द, श्रीरामकृष्ण एवं श्री माँ, श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर चतुर्थ संस्करण, १९७८, पृ० १०७।
४–अध्यात्मविकास, पृ० ८-९।

होता है। संसारके सभी प्राणियोंके साथ न्याय होता नहीं दिखायी पड़ता है। स्वामीजीके अनुसार उनकी कृपाका स्वरूप हम पूरी तरह इसलिये नहीं समझ पाते हैं; क्योंकि वस्तुस्थिति हमारे समक्ष पूर्णतः स्पष्ट नहीं होती। जीवनके संघर्ष, जीवनकी विभिन्न चुनौतियाँ हममें विद्यमान देवत्वको जगानेके लिये ही आयोजित हैं, उनसे हम किसी और रूपमें लाभान्वित होते हैं, यानी पद, मान, सम्मान, अर्थ तथा इसी प्रकारकी अन्य सफलताएँ तो ये हमें भ्रमित करनेवाली उपलब्धियाँ हैं। पर, क्योंकि ये ही ठोस यथार्थ और लुभावनी प्रतीत होती हैं, हम इन्हींको जीवनकी सफलताके प्रतिमानके रूपमें स्वीकारकर न मिलनेपर उदास और मिलनेपर प्रसन्न होते हैं—ईश्वरीय न्यायके आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगा देते हैं।[1]

इसी दृष्टिके समर्थनमें स्वामीजी इस ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हैं कि 'हमारी वर्तमान प्रक्रियाओंका स्वरूप हमारे स्वभावपर निर्भर करता है और वह पिछले जन्ममें अर्जित संस्कारोंसे निर्मित है। अतएव इस स्वभावका अतिक्रमण किये बिना जीवन-दृष्टिका बदलना सम्भव नहीं है। अतः इस स्वभावके रूपान्तरणमें जिन स्थितियोंकी अनिवार्यता है, उन्हें भी हमें सहर्ष स्वीकार करते हुए जीवनके दायित्वोंका निर्वाह करना चाहिये। धीरे-धीरे दृष्टि साफ होती जायेगी और ईश्वरीय उपस्थिति-का अहसास गहरा होता जायेगा[2]।' तभी भागवती कृपाकी अनुभूति हो पायेगी। उसकी कृपासे ही उसके मङ्गलमयत्वका आभास होता है; क्योंकि उसके संकल्प या अनुभूतिसे जो कुछ भी घटित होता है, वह मङ्गल ही है। हमारी सीमित एवं संकुचित दृष्टिके द्वारा ही कहीं मङ्गल, कहीं अमङ्गल दिखायी देता है। लौकिक सम्बन्धोंमें जिन वस्तुओंमें हमें कुछ सुखानुभूति, कुछ अच्छाई दिखायी पड़ती है, उसे हम मङ्गल कहते हैं या जिसमें इनका अभाव है, उसे अमङ्गल कहते हैं। किंतु जो हमारे लिये मङ्गलस्वरूप है, वह दूसरोंके लिये अमङ्गल भी हो सकता है। अतः हमारा दृष्टिकोण एवं व्यक्तित्व ही इस बातका निर्णायक कैसे हो सकता है? दृष्टिकोणके बदलते ही तथाकथित अमङ्गल-सूचक परिस्थितियाँ एवं अवस्थाएँ भी भागवती कृपाकी परिचायक प्रतीत होने लगेंगी। विश्वके अनेक महापुरुषोंके जीवन-चरित्रका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सुखसे अधिक दुःखने उन्हें शिक्षा प्रदान की है, धनसे अधिक निर्धनताने उन्हें महत्ता प्रदान की है, प्रशंसासे नहीं, अपितु निन्दाके प्रहार सहकर उनकी अनन्त ज्योतिका जागरण हुआ है।[3]' यही कारण है कि धैर्यशाली पुरुष अपार कष्टमें भी आद्याशक्तिको विस्मृत नहीं करते हैं। उनके लिये सुख-दुःख दोनों समान हैं। 'हमारी नीतियाँ भी इसीका समर्थन करती हैं।'[4] वस्तुतः मङ्गल-अमङ्गल, शुभ-अशुभको दो पृथक् रूपोंमें वर्णित करना हमारे सीमित मस्तिष्ककी ही परिकल्पना है, किसी यथार्थका द्योतक नहीं।

(क्रमशः)

१–विवेकानन्द, विवेकानन्द-साहित्य, पञ्चमखण्ड, पृ० २४। २–वही, पृ० २४।

३–विवेकानन्द, कर्मयोग (हि०अनु०) सन्मार्गप्रकाशन, दिल्ली १९६९,पृ० ६।

४–'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव मरणमस्तु युगान्तरे वा न्यायात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ (–भर्तृहरि)

भक्ति-संजीवनी भागवती कथा (२)

(संत श्रीरामचन्द्र डोंगरेजी महाराजके प्रवचनका सारांश)

नारदजी चिन्तामें फँसे हैं कि ज्ञान और वैराग्यकी मूर्छा उतरती नहीं है। उसी समय आकाशवाणी होती है कि तुम्हारा प्रयत्न उत्तम है। ज्ञान-वैराग्यके साथ भक्तिका प्रचार करनेके लिये कुछ सत्कर्म करो। नारदजीने पूछा कि क्या सत्कर्म करूँ ? तो आकाशवाणीने बताया कि सत्कर्म क्या है, वह तुम्हें संत-महात्मा बतायेंगे।

नारदजी अनेक साधु-संतोंसे पूछते हैं कि ज्ञान-वैराग्यसहित भक्तिकी पुष्टि मिले—ऐसा कोई उपाय बतायें ? परंतु कोई निश्चित उपाय भी नहीं बता सका। नारदजी चिन्तामें पड़ गये। वे सोचने लगे कि निश्चित उपाय बतलानेवाले संत मुझे कहाँ मिलेंगे और वे क्या साधन बतायेंगे ? ऐसा विचार करते-करते नारदजी घूमते-फिरते बदरीकाश्रममें आये। वहाँ सनकादि मुनियोंके साथ उनका मिलन हुआ। नारदजीने सनत्कुमारोंको सारी कथा सुनायी।

नारदजी कहते हैं कि मैंने जिस देशमें जन्म लिया है, यदि उसी देशके लिये उपयोगी न बन सकूँ तो मेरा जीवन वृथा है। आप बतायें कि मैं क्या सत्कर्म करूँ ?

सनकादि मुनि कहते हैं कि देशके दुःखसे तुम दुःखी हो, तुम्हारी भावना दिव्य है। भक्तिका प्रचार करनेकी तुम्हारी इच्छा है। भागवत-ज्ञानमार्गका पारायण करो, तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी। तुम भागवत-ज्ञानयज्ञ करो और भागवतका प्रचार करो। इसीसे लोगोंका कल्याण होगा। इस कथासे ज्ञान और वैराग्यकी जागृति होगी। श्रीभागवतकी कृपा ज्ञान, भक्ति और वैराग्यको बढ़ानेवाली है। इसलिये सर्व वेदोंके साररूप इस श्रीभागवतका ज्ञानयज्ञ करो।

श्रीभागवत-कथाका अमृतपान करनेके लिये वे वहाँसे गङ्गाजीके किनारे गये। शुद्ध भूमिमें सात्त्विक भाव जागते हैं। भूमिका प्रभाव सूक्ष्मरीतिसे मनपर अवश्य पड़ता है। भोगभूमि भक्तिमें बाधक है। श्रीगङ्गाजीका तट ज्ञानभूमि है। अतः आज्ञा की कि गङ्गा-किनारे चलो। वे वहाँ पहुँचे।

श्रीनारदजी सनत्कुमारोंके साथ आनन्दवनमें आये हैं। सनत्कुमार श्रीव्यासाश्रममें आये हैं। नारदजी हाथ जोड़े बैठे हैं। वहाँ ऋषि-मुनि भी श्रीभागवत-कथाका पान करने आये हैं। जो नहीं आये थे उन सभीके घर भृगु ऋषि जाते हैं और विनीत भावसे वन्दन करके उनको कथामें ले आते हैं। सत्कर्ममें दूसरोंको प्रेरणा दे उसे भी पुण्य मिलता है।

कथाके आरम्भमें भगवान्‌का जय-जयकार करते हैं और 'हरये नमः' का शुद्धोच्चारण करते हैं। 'हरये नमः' महामन्त्र है। जय-जयकारसे वातावरण हरिमय हो जाता है। सारी प्रवृत्तियोंको छोड़कर मनुष्य ध्यानमें बैठ जाता है।

जीव और ईश्वरके मिलनेमें माया विघ्न करती है।

माया मनको चञ्चल बनाती है। माया मनुष्यको समझाती है कि स्त्री-बालक और धन-संपत्ति आदिमें ही सुख है। मनुष्यको माया पराजित कर देती है। मनुष्यकी हार होती है और मायाकी जीत होती है। इसका कारण यह है कि मनुष्य प्रभुका जय-जयकार नहीं करता। कथामें, भजनमें, प्रेमसे ईश्वरका जयकार करना चाहिये, जिससे मायाकी हार हो और अपनी जीत हो।

प्रभुका जय-जयकार करोगे तो तुम्हारी भी जीत होगी और तुम्हारा भी जय-जयकार होगा। जय-जयकार उत्कर्षका सूचक होता है।

भूख और तृष्णाको नहीं भूलोगे, तो पाप होते ही रहेंगे। भूख और प्यासको सहन करनेकी आदत होनी चाहिये। आगे कथा आयेगी कि राजा परीक्षित्की बुद्धि भूख और प्यासके कारण ही बिगड़ी थी।

सूतजी सावधान करते हैं। हे राजन्! नारदजी आज श्रोता बनकर बैठे हैं और सनकादि व्यासासनपर विराजमान हैं। अतः दिव्य जय-जयकार होने लगा है।

भागवतकी कथा अति दिव्य है। इस कथाको जो प्रेमसे सुनेगा उसके कानोंमेंसे परमात्मा हृदयमें उतरेंगे।

नेत्र और श्रोत्रको जो पवित्र रखते हैं, उनके हृदयमें श्रीपरमात्मा आते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कानोंमेंसे, आँखोंमेंसे मनमें आते हैं। बार-बार जो श्रीकृष्णकी कथा सुनता है उसके कानोंमेंसे श्रीकृष्ण हृदयमें पधारते हैं।

पाप भी कानोंमेंसे मनमें आता है। कानोंको कथा श्रवण कराओगे, आप श्रीभगवान्की कथा सुनोगे तो मन भगवान्में स्थिर होगा। कानोंमेंसे भगवान् हृदयमें आयेंगे। श्रीभगवान्के हृदय-प्रवेशके लिये हमारी देहमें आँखें और कान द्वार हैं, साधन हैं। कई लोग आँखोंसे ही प्रभुके स्वरूपको मनमें उतारते हैं तो कुछ लोग कानसे श्रवण करके श्रीभगवान्को हृदयमें उतारते हैं। अतः आँख और कान दोनोंको पवित्र रखो। वहाँ श्रीकृष्णको पधराओ।

प्रत्येक सत्कर्मके आरम्भमें शान्तिपाठ किया जाता है। उसका मन्त्र है—**ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः।** 'हे देवो! कानोंसे हम कल्याणकारी वचन सुनें।' कान और आँख पवित्र हों। फिर सत्कर्मोंका आरम्भ हो। इसीलिये तो पूजामें गुरु महाराज कानों और आँखोंको पानी लगानेको कहते हैं।

विशुद्ध इन्द्रियोंमें ही परमात्माका प्रकाश होता है। इसलिये इन्द्रियोंको शुद्ध करो और शुद्ध रखो। मनको भी शुद्ध करो और शुद्ध रखो। काल नहीं बिगड़ा है, मन ही बिगड़ा है। नेत्र और श्रोत्रको पवित्र करनेके बाद कथाका आरम्भ होता है।

सनकादि मुनि कहते हैं कि इस भागवत-शास्त्रमें अठारह हजार श्लोक हैं। अठारहकी संख्या (१८ यानी १+८) परिपूर्ण है। श्रीरामकृष्ण परिपूर्ण हैं, अतः नवमीके दिन प्रकट हुए हैं। श्रीकृष्ण नवमीके दिन ही गोकुलमें आये हैं, तभी नन्द-महोत्सव करनेमें आया है। श्रीरामजीकी बारह कला है और श्रीकृष्णजीकी सोलह कला—ऐसा भेद नहीं करना चाहिये। दोनों प्रभुके पूर्ण अवतार हैं।

श्रीभागवतमें मुख्य कथा है नन्दमहोत्सवकी। इस कथाके भी अठारह श्लोक हैं। श्रीभागवतपर प्राचीन और उत्तम टीका श्रीधर स्वामीजीकी है। उन्होंने किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्तका सहारा न लेकर स्वतन्त्र रीतिसे भागवत-तत्त्वका विचार किया है। इस श्रीधरी टीकापर वंशीधर महाराजकी टीका है। उन्होंने कहा है कि हमारे ऋषि-मुनियोंने केवल निःस्वार्थ भावसे इस ग्रन्थकी रचना की है।

श्रीमद्भागवतकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? भागवत तो श्रीनारायणका ही स्वरूप है। श्रीभगवान् जब गोलोक पधारे तब उन्होंने अपने तेजःस्वरूपको इस ग्रन्थमें दे दिया, ऐसा एकादश स्कन्धमें लिखा हुआ है। अतः भागवत भगवान्की शब्दमयी साक्षात् मूर्ति है, श्रीकृष्णकी वाङ्मयी मूर्ति है।

उद्धवजीने जब पूछा कि आपके स्वर्गधाम गमनके बाद इस पृथ्वीपर अधर्म बढ़ेगा तो धर्म किसकी शरणमें

जायगा ? तब श्रीभगवान्‌ने कहा था कि मेरी भागवतका जो आश्रय लेगा उसके घरमें कलि नहीं जा सकेगा ।

श्रीभागवत भगवान्‌का नामस्वरूप है । नामस्वरूपसे ही अन्य रूप सिद्ध होते हैं । मनके मैलको दूर करनेके लिये ही यह भागवत शास्त्र है । मनको शुद्ध करनेका साधन भागवत-कथा है । यह कथा सुननेके बाद भी यदि पाप करना चालू रखेंगे तो यमदूतोंकी ओरसे दो चाँटे और खाने पड़ेंगे ।

ईश्वरके साथ प्रेम करनेका साधन यह भागवत-शास्त्र है । मनुष्य पत्नी, धन-संपत्ति, भोजन आदिके साथ तो प्रेम करता है, परंतु प्रभुके साथ प्रेम नहीं करता है । इसलिये वह दुःखी है ।

श्रीरामानुजाचार्यके जीवनमें एक प्रसंग आया था । रंगदास नामका एक सेठ था, जो एक वेश्यापर अतिशय आसक्त था । एक दिन रंगदास और वह वेश्या प्रभु श्रीरंगनाथजीके मन्दिरके पाससे निकले । श्रीमंत सेठ रंगदास वेश्याके सिरपर छाता पकड़े हुए जा रहे थे । ठीक उसी समय श्रीरामानुजाचार्यजी मन्दिरसे बाहर निकले । उन्होंने यह दृश्य देखा । ये भी ईश्वरके ही जीव हैं और ईश्वरसे मिल जायँ तो उनका भी उद्धार हो जाय—ऐसा सोचकर उनसे मिलने गये । रास्तेपर जाकर वे रंगदाससे मिले और बोले कि तुम इस वेश्यासे जो प्रेम करते हो उसे देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ । अस्थि और विष्ठासे भरी इस स्त्रीसे तुम प्रेम करते हो । इस स्त्रीकी तुलनामें मेरे प्रभु श्रीरंगनाथजी अति सुन्दर हैं । इस स्त्रीसे जैसा प्रेम करते हो ऐसा प्रेम मेरे प्रभुसे करो । प्रेम करनेयोग्य तो एक परमात्मा ही हैं । ऐसा कहकर उन्होंने रंगदासको एक चाँटा मारा । रंगदासको वहीं समाधि लग गयी । उसे श्रीरंगनाथजीके दर्शन हुए । उसके बाद रंगदासने किसी भी स्त्रीसे प्रेम नहीं किया ।

मनुष्य अपना प्रेमपात्र हर क्षण बदलता है । परंतु कहीं भी इसे संतोष और शान्ति नहीं मिलती है । बाल्यावस्थामें मातासे प्रेम करता है । कुछ बड़े होनेपर मित्रोंसे प्रेम करता है । विवाह हुआ तो पत्नीसे प्रेम करता है । उसके बाद वह पुत्रोंसे प्रेम करता है । उसके बाद वह धनसे प्रेम करता है । अतः ईश्वरको ही प्रेमका पात्र बनाओ कि जिससे प्रेमका पात्र बदलनेका प्रसंग ही न आये । परमात्मा नित्य हैं और उनका प्रेम अमृत है ।

श्रीभागवत-शास्त्र बार-बार सुनोगे तो परमात्मासे प्रेम बढ़ेगा । आजकल लोग भक्ति तो बहुत करते हैं, परंतु भगवान्‌को साधन और सांसारिक सुखोंका साध्य मानकर ही करते हैं । अतः भक्ति सार्थक नहीं होती है और लोग दुःखी होते हैं । श्रीभगवान्‌को ही साध्य मानो, संसारके सुखोंको नहीं ।

मेरा आजतकका जीवन निरर्थक ही निकल गया, आदि भाव हृदयमें जागे तो ऐसी कथाका श्रवण सार्थक हुआ । कथा सुननेके बाद पाप न छूटे और वैराग्य उत्पन्न न हो तो कथाका श्रवण किस कामका ?

श्रीभागवतके दर्शनसे, श्रवणसे, पूजनसे पापोंका नाश होता है । श्रीमद्भागवतके श्रवणमात्रसे ही सद्गति मिलती है । कथा-श्रवणका लाभ आत्मदेव ब्राह्मणका चरित्र कहकर बतलाया गया है ।[1] बिना दृष्टान्तका सिद्धान्त मनको नहीं छूता, अतः आत्मदेव ब्राह्मणका चरित्र कहा गया है । कथा केवल रूपक नहीं है । कथाकी लीला सच्ची है और उसमें कहा गया अध्यात्म सिद्धान्त भी सत्य है । (अपूर्ण)
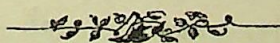
१—आत्मदेवकी कथा अगले अङ्कमें पढ़िये ।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव भिन्न या अभिन्न

(ले०—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

शङ्का—कहीं शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, शिवकी एक दूसरेसे उत्पत्ति बतायी है, कहीं इन तीनोंकी भी किसी एक अन्य तत्त्वसे उत्पत्ति बतायी है, कहीं इन्हें भिन्न तो कहीं अभिन्न कहा है। कहीं भिन्न या अभिन्न माननेकी निन्दा-प्रशंसा की है। कहीं विष्णुको ही मुक्तिदाता कहा है, शिवको नहीं। कहीं शिवको भी मुक्तिदाता कहा है। देखिये—

(१) अशक्तोऽहं गुणान् वक्तुं महादेवस्य धीमतः।
ब्रह्माविष्णुसुरेशानां स्रष्टा च प्रभुरेव च॥
(महा० अनुशा० पर्व १४ । ३-४)

योऽसृजद्दक्षिणादङ्गाद् ब्रह्माणं लोकसम्भवम्।
वामपार्श्वात्तथा विष्णुं लोकरक्षार्थमीश्वरः॥
(महा० अनुशा० प० १४ । ३४७)

अर्थः—मैं महादेवजीके गुणोंका वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ, वे ब्रह्मा, विष्णु तथा सुरेशको उत्पन्न करनेवाले उनके स्वामी हैं।

जिस ईश्वर-(महादेव-) ने अपने दक्षिण अङ्गसे लोकोत्पादक ब्रह्माकी रचना की है और वामपार्श्वसे लोकरक्षक विष्णुकी रचना की है।

(२) यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः।
(भाग० २ । ६ । २२)

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः।
विश्वं पुरुषरूपेण परिपाति त्रिशक्तिधृक्॥
(भाग० २ । ६ । ३१)

भ्रुवोर्मध्यात्प्रजापतेः···कुमारो नीललोहितः॥
(भाग० ३ । १२ । ७)

अर्थः—मैं (ब्रह्मा) महात्मा-(विष्णु-) के नाभिकमलसे उत्पन्न हुआ। उनसे नियुक्त हुआ मैं सृष्टि करता हूँ और उनके वश हुए हर (शंकर) संहार करते हैं। तीनों शक्ति धारण करनेवाले वे पुरुष (विष्णु रूपसे) विश्वका पालन करते हैं। प्रजापति-(ब्रह्मा-) की भौंहोंके मध्यसे नीललोहित कुमार (रुद्र) उत्पन्न हुए।

(३) देवदेव महादेव भूतात्मन् भूतभावन।
(भाग० ८ । ७ । २१)

त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।
(भाग० ८ । ७ । २२)

गुणामय्या स्वशक्त्यास्य सर्गस्थित्यप्ययान्विभो।
धत्से यदा स्वदृग् भूमन् ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम्॥
(भा० ८ । ७ । २३)

त्वं ब्रह्म परमं गुह्यं सदसद्भावभावनः।
(भा० ८ । ७ । २४)

अर्थः—हे देवोंके देव ! हे महादेव ! हे भूतात्मन् ! हे भूतभावन ! आप ही एक सर्वजगत्के बन्ध-मोक्षके ईश्वर अर्थात् दाता हैं। हे स्वयंप्रकाश भूमन् ! जब गुणमयी अपनी शक्तिद्वारा इस संसारकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय करते हैं तब हे प्रभु ! ब्रह्मा, विष्णु, शिव नाम धारण करते हैं। आप ही परम गुह्य ब्रह्म हैं, सद्-असद् भावोंको भावित करनेवाले हैं।

(४) ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सर्वे सम्प्रसूयन्ते।

अर्थः—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इन्द्र सभी आपसे ही उत्पन्न होते हैं।

(५) त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदाम्।
(भाग० ४ । ७ । ५४)

रुद्रो नारायणश्चैव सत्त्वमेकं द्विधा कृतम्।
(महा० शान्तिप० ३४१ । २७)

यो विष्णुः स तु वै रुद्रो यो रुद्रः स पितामहः।
एका मूर्तिस्त्रयो देवा रुद्रविष्णुपितामहाः॥
(हरिवंश० विष्णुधर्म १२५ । ३१)

अर्थः—तीनोंमें एक भावको जो देखता है, भेद नहीं देखता है वही शान्ति पाता है। रुद्र और नारायण

रूपसे एक ही सत्त्व दो भागोंमें विभक्त किया गया है। जो विष्णु हैं, वही रुद्र हैं; जो रुद्र हैं, वही पितामह ब्रह्मा हैं। रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा—ये तीनों देवता एकमूर्ति ही हैं।

(६) **विष्णुब्रह्मादिदेवानामैक्यं जानन्ति ये नराः।**
ते यान्ति नरकं घोरं पुनरावृत्तिवर्जितम्॥
(गरुडपु० बृह०स्व० ४।६)
यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाखण्डी भवेद्ध्रुवम्॥
(पद्मपु०)

अर्थः—विष्णु, ब्रह्मा आदि देवोंकी एकता जो मनुष्य जानते हैं, वे पुनरावृत्तिरहित अर्थात् सदाके लिये नरकको प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्मा, रुद्रादि देवताओंके साथ नारायणदेवको भी समान देखता है, वह निश्चय ही पाखण्डी होता है।

(७) **मुक्तिं प्रार्थयमानं मां पुनराह त्रिलोचनः।**
मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः॥
(हरिवंशे भविष्यपर्वणि ८०।३०)
वरं वृणीष्व भद्रं ते ऋते कैवल्यमद्य नः।
एक एवेश्वरस्तस्य भगवान् विष्णुरव्ययः॥
(भाग० १०।५१।२०)

अर्थः—मुक्तिकी प्रार्थना करनेवाले मुझसे शंकरजीने कहा कि सभीको मुक्ति देनेवाले विष्णु ही हैं, इसमें संशय नहीं। मुझसे कैवल्य-(मुक्ति-) को छोड़कर वरदान माँग लो, एक भगवान् विष्णु ही उसके ईश्वर अर्थात् दाता हैं। इसके विपरीत उपर्युक्त यह वाक्य है—

(८) **त्वमेकः सर्वजगत ईश्वरो बन्धमोक्षयोः।**
(भाग० ८।७।२२)

अर्थ—आप (शिव) ही सर्वजगत्के बन्धमोक्षके ईश्वर अर्थात् दाता हैं।

इन परस्पर विरुद्ध शास्त्रवचनोंके कारण यह शंका होती है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव भिन्न हैं या अभिन्न? क्या इन तीनोंकी उत्पत्ति एक दूसरेसे होती है या किसी अन्य परमतत्त्वसे तीनोंकी उत्पत्ति होती है या परमतत्त्व इन तीन रूपोंमें प्रकट होता है। मुक्तिदाता शिव हैं या विष्णु? भिन्न या अभिन्न माननेकी निन्दा क्यों की है? इन शंकाओंका सम्यक् समाधान प्रदान कीजिये।

समाधान—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति-स्थिति-संहारकी शक्तिसे युक्त परब्रह्म एक ही है। विष्णुको सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित करनेवाले इतिहास-पुराण-प्रकरणोंमें उसी परब्रह्मको विष्णु शब्दसे कहा गया है। उन्हीं पुराणादिमें या अन्यत्र उन विष्णुसे ब्रह्मा, शिव तथा विष्णुकी भी जो उत्पत्ति कही गयी है, वह केवल एक-एक ब्रह्माण्डके उत्पादक, संहारक तथा पालक हैं। इस प्रकार विष्णुभगवान्के दो रूप हैं—१—कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेकी शक्तिवाले कारणरूप विष्णुभगवान् और २—एक ब्रह्माण्डकी पालनशक्तिसे युक्त कार्यरूप विष्णुभगवान्। कारणरूप विष्णुसे कार्यरूप विष्णुकी उत्पत्तिका अर्थ भी पालनरूप एक शक्तिसे युक्त विष्णुकी अभिव्यक्ति बतानेमें ही है, उत्पत्ति बतानेमें नहीं; क्योंकि जीव जैसे कर्मके परवश होकर उत्पन्न होता है वैसे ये कार्यरूप विष्णु कर्म-परवश होकर उत्पन्न नहीं होते।

इसी प्रकार ब्रह्मा या शिवको सर्वोत्कृष्ट प्रतिपादित करनेवाले शास्त्रोंमें उसी सर्वकारणरूप परब्रह्मको ही ब्रह्मा या शिव शब्दसे कहा गया है। उनसे जिन विष्णु, ब्रह्मा तथा शिवकी उत्पत्ति कही गयी है, ये एक-एक ब्रह्माण्डके पालक, उत्पादक, संहारक हैं। इनकी भी उनसे अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं।

तात्पर्य यह है कि कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके उत्पत्ति-स्थिति-संहार करनेकी शक्तिसे युक्त सर्वकारण परब्रह्म-रूपसे वर्णित ब्रह्मा, विष्णु, शिव एक ही तत्त्व हैं, सर्वथा अभिन्न ही हैं, भिन्न नहीं। इसी दृष्टिसे ऊपरके पाँचवें

अङ्कमें लिखे शास्त्रवचनोंमें इनकी एकता—अभिन्नता कही गयी है। अतएव इन्हें अभिन्न जाननेवालोंकी प्रशंसा तथा भिन्न जाननेवालोंकी निन्दा की जाती है। चौथे अङ्कमें जिन ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रकी उत्पत्ति कही गयी है वे एक-एक ब्रह्माण्डके उत्पादक, पालक, नाशक हैं, और जिससे इनकी उत्पत्ति होती है, वे सर्वकारणरूप परब्रह्म तत्त्व हैं। एक-एक ब्रह्माण्डके पालक कार्यरूप विष्णु आदिसे कार्यरूप विष्णु-ब्रह्मा-शिवकी उत्पत्ति नहीं होती है।

इस विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अङ्क एक तथा तीनमें जिस शिवसे ब्रह्मा-विष्णु-शिवकी उत्पत्ति कही है, वे शिव कारणरूप परब्रह्म हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा आदि कार्यरूप हैं। इसी प्रकार अङ्क दोमें जिन विष्णुसे ब्रह्मा, शिवकी उत्पत्ति कही है, वे विष्णु कारणरूप परब्रह्म हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा शिव कार्यरूप हैं। इसी प्रकार तुलसीदासजीके रामजी कारणरूप परब्रह्म हैं और उनसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मा-विष्णु-शिव कार्यरूप हैं—

संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥
(१।१४३।६)

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
(१।१४७।३)

इस कार्यरूप ब्रह्मा तथा शिवकी कारणरूप विष्णु या नारायणसे एकता जाननेवालोंकी ही अङ्क ६में निन्दा की है। निन्दाका यह भी तात्पर्य हो सकता है कि कारण-रूपकी ही उपासना करनी चाहिये, कार्य-रूपकी नहीं। परकी निन्दा स्व-स्व इष्टमें निष्ठा करनेकी दृष्टिसे भी कर दी जाती है। ऐसे स्थलोंमें जिसकी निन्दा की गयी है वह उपासनीय न होता हो—ऐसा वहाँ तात्पर्य नहीं होता, उसके भक्तके लिये तो वह उपासनीय ही होता है।

अङ्क सातमें जो विष्णुको ही मुक्तिदाता कहा है, शिवादिको नहीं, उसका तात्पर्य भी कारणरूप विष्णुको मुक्तिदाता तथा कार्यरूप शिवको मुक्ति अदाता बतानेमें समझना चाहिये; क्योंकि अङ्क आठमें कारणरूप शिवको स्पष्ट ही मुक्तिदाता बताया है। कार्यरूप शिव भी जीवकी तरह असमर्थ होने या कारणरूप शिवसे सर्वथा भिन्न होनेसे मुक्ति न दे पाते हों, ऐसी बात नहीं है। किन्तु परशुरामादिकी तरह केवल कार्य विशेषके लिये प्रकट होनेके कारण वैसा कथन किया गया है अथवा यहाँ भी स्व-इष्टमें अर्थात् विष्णुभक्तकी विष्णु-भगवान्‌में पूर्ण निष्ठा करानेके लिये ही विष्णुको मुक्तिदाता कहा है, शिवको नहीं।

कुछ वैष्णवाचार्योंने अङ्क दो तथा अङ्क छःमें उल्लिखित प्रमाणोंके आधारपर विष्णुको ही सर्वोत्कृष्ट और शिवको निकृष्ट सिद्ध करनेका प्रयास किया है एवं कुछ शैवाचार्योंने अङ्क एक तथा तीनके प्रमाणोंके आधारपर शिवको ही सर्वोत्कृष्ट और विष्णुको निकृष्ट सिद्ध करनेका प्रयास किया है। मेरी दृष्टिसे उनका वह प्रयास भी स्व-स्व इष्टमें पूर्ण श्रद्धाके लिये ही है; क्योंकि अङ्क पाँचमें अति स्पष्ट शब्दोंमें तीनोंको एक ही कहा है।

'विष्णुसे ब्रह्मा, शिवकी उत्पत्तिके वचन तो शास्त्रोंमें मिलते हैं, किंतु शिवसे विष्णुकी उत्पत्ति बतानेवाला एक वचन भी शास्त्रोंमें नहीं मिलता'। ऐसा मानकर विष्णुको सर्वोत्कृष्ट बतानेवाले विद्वानोंको अङ्क १ तथा तीनमें शिवसे विष्णुकी उत्पत्ति-कथन करनेवाले वचनोंको ध्यानसे पढ़ना चाहिये।

अतः मेरे विचारानुसार कारणरूप ब्रह्मा-विष्णु-शिव अभिन्न ही हैं।

भगवत्प्राप्ति क्रियासाध्य नहीं

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका प्रवचन)

एक बात विशेष ध्यान देनेकी है कि जिसको मुक्ति, कल्याण अथवा भगवत्प्राप्ति कहते हैं, वह स्वतःसिद्ध है। वह क्रियासाध्य नहीं है और सांसारिक जितनी भी वस्तुएँ हैं, ये सब प्रकृतिके कार्य होनेसे इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता ही रहता है। इन वस्तुओंमें परिवर्तनरूप क्रिया ही क्रिया है। संसारकी वस्तुएँ क्रियारूप होनेसे क्रियाओंद्वारा प्राप्त होती हैं, यानी क्रियासाध्य हैं।

अब उस तत्त्वकी अनुभूतिके लिये जो भी कुछ साधना या चेष्टा की जाती है, वह सब शास्त्र-सम्मत है और उचित है। परंतु सिद्धान्तकी एक बहुत बढ़िया और सूक्ष्म बात है कि 'वह तत्त्व स्वतःसिद्ध है।' वह क्रियाओंद्वारा प्रापणीय नहीं है। यह बात बहुत विशेष ध्यान देनेकी है; क्योंकि मुझे भी यह बात बहुत वर्षोंके बाद सन्तोंसे मिली। इससे मुझे बहुत लाभ हुआ। इसलिये केवल इस बातकी ओर आप ध्यान दें तो आपको भी बहुत लाभ होगा।

हम यह मानते हैं कि परमात्मा सब समयमें सब जगह हैं, तो अभी हैं और यहाँ हैं। जब परमात्मा सब समयमें हैं तो फिर इस समयमें हैं कि नहीं? यदि इस समय नहीं हैं तो सब समयमें परमात्मा हैं—यह कहना नहीं बनेगा—यह एक बात। परमात्मा सब जगह हैं तो यहाँ हैं कि नहीं? अगर यहाँ नहीं हैं और अभी नहीं हैं तो सब जगह हैं और सब समयमें हैं—यह कहना नहीं बनेगा—यह दूसरी बात। परमात्मा सभीमें हैं, चाहे जड़-चेतन, स्थावर-जंगम आदि कोई भी वस्तु हो, उसमें परमात्मा हैं। जड़ कहते हैं निर्जीव वस्तुको और चेतन कहते हैं सजीवको। सजीवके दो भेद हैं—स्थावर और जंगम, तो जड़-चेतनमें, स्थावर-जंगममें परमात्मा हैं। महात्माओंमें, सन्तोंमें भी परमात्मा हैं और नीचे-से-नीचे समझे जानेवाले प्राणीमें तथा दुष्ट-से-दुष्ट आचरणवाले मनुष्यमें भी परमात्मा हैं। शुद्ध-से-शुद्ध वस्तुमें और महान् अपवित्र-से-अपवित्र वस्तुमें तथा नरकोंमें परमात्मा परिपूर्ण हैं। जब वे सबमें हैं तो वे हमारेमें हैं कि नहीं? यदि हमारेमें नहीं हैं तो भगवान् सबमें हैं—यह कहना बनेगा नहीं—यह तीसरी बात। परमात्मा सबके हैं, यह नहीं कि वे साधुओंके तो हैं और गृहस्थियोंके नहीं हैं। भाइयोंके तो हैं और बहिनोंके नहीं हैं। ब्राह्मणोंके तो हैं, अन्त्यजोंके नहीं हैं। ऐसा नहीं कह सकते हैं कि परमात्मा किसी व्यक्तिविशेषके हैं; क्योंकि दुष्ट-से-दुष्ट पुरुषके भी परमात्मा वैसे-के-वैसे हैं, जैसे महात्मा-से-महात्माके हैं। दुष्ट पुरुष अपने अन्तःकरणकी मलिनताके कारण उनका अनुभव न कर सके, यह बात है, परंतु अलग उसके लिये परमात्माके होनेपनमें फरक नहीं है। यह नहीं कि दुष्टमें तो परमात्मा कम हैं और सन्तमें ज्यादा रहे। उनका किसीमें कोई पक्षपात नहीं है, वे सबके हैं। उस परमात्मापर जैसे महात्मा-से-महात्माका हक लगता है, वैसे ही दुष्ट-से-दुष्टका भी लगता है। आप यह नहीं कह सकते कि इसके तो वे हैं और इनके नहीं हैं। अन्तःकरण मैला होनेसे सब उनका अनुभव नहीं कर सकते, पर सबमें परमात्मतत्त्वका अभाव नहीं है। परमात्मामें किञ्चिन्मात्र भी पक्षपात नहीं है, पक्षपात हो ही नहीं सकता, इसलिये वे सबके हैं—यह चौथी बात, इससे सिद्ध यह हुआ कि परमात्मा सबके हैं, तो मेरे हैं और सबमें हैं तो मेरेमें हैं और सब जगह हैं तो यहाँ हैं। सब समयमें हैं, तो अभी हैं। वे हैं, ज्यों-के-त्यों ही हैं।

उनमें कर्मोके द्वारा परिवर्तन नहीं होता, इसलिये वे क्रियासाध्य नहीं हैं।

इन चार बातोंकी ओर ध्यान देनेसे एक बात सिद्ध होती है कि परमात्मा हमें नित्य प्राप्त हैं। उनकी तरफ आप विशेष ध्यान दें। हम भगवान्‌का भजन करते हैं, नाम-जप करते हैं, कीर्तन करते हैं, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंका पाठ करते हैं, सन्तोंकी वाणी पढ़ते हैं तो एक भाव होता है कि परमात्मा अभी नहीं, आगे कभी मिलेंगे, अभी हमारा अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ, हम परमात्माकी प्राप्तिके योग्य नहीं हुए, इसलिये अभी परमात्मा नहीं मिलेंगे, भविष्यमें मिलेंगे—यह जो धारणा है, यह महान् बाधक है। साधकलोग मनमें तो समझते हैं कि हम भगवान्‌की ओर चल रहे हैं, परंतु भगवान्‌से अलग होनेका उद्योग करते हैं अर्थात् यह चिन्तन करते हैं कि अभी भगवान् नहीं मिलेंगे। मेरा अन्तःकरण जब शुद्ध हो जायेगा, तब मिलेंगे। अभी परमात्मा कैसे मिल जायेंगे? मैं योग्य नहीं हूँ, मैं पात्र भी नहीं हूँ—यह जो धारणा है, यह महान् बाधक है। यह धारणा साधकका महान् पतन करनेवाली है। मेरी योग्यता नहीं है, मैं वैसा पात्र नहीं हूँ—यह बात तो ठीक है, पर क्या मेरी अपात्रतासे भगवान् अटक सकते हैं? परमात्मा इतने कमजोर हैं कि मैं योग्य नहीं हूँ, इसलिये वे नहीं मिल सकते हैं? फिर तो उनको 'दयालु' मानना ही निरर्थक है। भगवान् योग्यको मिलते हैं, अयोग्यको मिलते ही नहीं, तो फिर उनमें दयाका क्या लेना-देना?

भगवान्‌ने अपनेको **'सुहृदं सर्वभूतानाम्'** (गीता ५। २९) कहा है तो क्या दुष्टसे भी दुष्टके भगवान् सुहृद् नहीं हैं? अवश्य हैं। तो मैं कैसा ही क्यों न हूँ तो क्या मेरे भगवान् सुहृद् नहीं हैं? अगर उनमें पक्षपात हैं तो वे भगवान् कैसे? परमात्माके ऊपर मेरी दुष्टताका कोई असर नहीं है। मैं दुष्ट हूँ, मैं ज्यादा अयोग्य हूँ तो भगवान्‌की कृपा मुझपर अधिक होगी—**'पापी हुलस विशेषी अबकी बेर उबारियो'**—इसका क्या अर्थ हुआ? पापीके मनमें अधिक उत्साह और आनन्द होता है। **'पापी हुलस विशेषी'** का अर्थ यही होता है कि भगवान् पतित-पावन हैं सो उनपर पतितोंका हक ज्यादा लगता है। माँ अबोध होती है और उसमें लड़केका पक्षपात भी रह सकता है, वह भी अयोग्य लड़केका ज्यादा ख्याल रखती है तो क्या भगवान् मेरेपर कृपा नहीं करेंगे? यह हो ही नहीं सकता कि वे मुझपर कृपा न करें। इसलिये साधक भजन-ध्यान करते हुए, जप-ध्यान करते हुए इस बातपर विशेष ध्यान दें और ऐसा सोचें कि जप करते हुए जिह्वामें, नाममें, श्वासमें, मनमें, बुद्धिमें, अन्तःकरणमें, शरीरमें, सबमें, सब जगह वह परमात्मा परिपूर्ण हैं, पूरे-के-पूरे हैं, किञ्चिन्मात्र भी कमी नहीं है, लबालब भरे हुए हैं परमात्मा। जहाँ जीभसे नाम जपता है, वहाँ वे हैं। अब यह शंका होती है कि जब वे परमात्मा सबमें हैं, सब जगह मौजूद हैं तो फिर नाम-जप किसलिये करते हो? नाम-जपके बिना हमें सन्तोष नहीं होता, इसलिये करते हैं। सनकादि ऋषियोंकी बात आपने सुनी है न? वे चारों भाई तत्त्वज्ञ हैं। उनमेंसे एक तो कथा सुनाता है और तीन सुनते हैं। इस प्रकार भगवान्‌की कथा कहते हैं। क्यों कहते हैं? इसलिये कि भगवान्‌की कथा ऐसी ही है।

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

भगवान् ऐसे हैं कि उनके भजन बिना साधक रह नहीं सकता। उतना रस, उतना आनन्द और कहीं है ही नहीं। ऐसा आनन्द हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, हो सकता ही नहीं। इसलिये हम उनका

भजन करते हैं। भजनके द्वारा हम भगवान्‌को खरीद लेंगे, ऐसा भाव नहीं रखना है। भगवान् तो अपनी कृपासे ही मिलते हैं। हमारा अनन्य प्रेम नाम-जपमें, कीर्तनमें होना चाहिये, पर हमने संसारमें आसक्ति कर ली है, संसारके पदार्थों और व्यक्तियोंमें प्रियता कर ली—यह बड़ी भारी गलती की है। उस गलतीके संशोधनके लिये हमें जप-ध्यान आदि विशेषतासे करना है। परमात्मा जप, भजन, ध्यान आदिके अधीन हों—ऐसा नहीं है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।'

(गीता ११। ५३)

उपनिषदोंमें आता है कि बहुत पढ़नेसे, पण्डिताईसे परमात्मा नहीं मिलते, बहुत सुननेसे शास्त्रोंका बोध हो जाय, तो भी परमात्मा नहीं मिलते—**'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः।'** गीतामें भी आया है—**'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्'** (गीता २। २९)। इसका आप उल्टा—विपरीत अर्थ मत लेना कि पढ़ना, शास्त्रका ज्ञान प्राप्त करना खराब है, सत्संग सुनना खराब है। इन्हें तो करते ही रहना है। कहनेका भाव यह है कि इनके द्वारा परमात्माको खरीद नहीं सकते, परमात्माके ऊपर कब्जा नहीं कर सकते। जैसे किसी चीजकी जो कीमत होती है, वह कीमत पूरी देनेपर ही उसपर हमारा अधिकार हो पाता है, ऐसे ही भगवान्‌को कोई किसी साधनसे खरीदना चाहे सो बात नहीं है। साधन-सम्पत्तिसे उनपर कोई अधिकार जमा ले, यह संभव नहीं है; क्योंकि भगवान् क्रिया-साध्य नहीं हैं, प्रत्युत कृपा-साध्य हैं।

भगवान्‌पर अधिकार करनेका भी एक तरीका है। वह तरीका यह है कि स्वयं सर्वथा भगवान्‌का हो जाय और तन, मन, वाणी, विद्या, बुद्धि, अधिकार आदि किसीका भी किञ्चित् भी सहारा न ले तो वह भगवान्‌को नचा सकता है। भगवान् उसके वशमें हो जायँगे, परंतु हमारी साधना है, हमने जप किया है, हमने कीर्तन किया है, अभ्यास किया है, हम गीता जानते हैं, हम शास्त्र जानते हैं—ऐसी हेकड़ी अथवा अभिमान रखते हुए प्रभु वशमें हो जायँ, यह असम्भव है। ऐसा है ही नहीं। वे तो कृपा-परवश होते हैं। उनकी कृपा उसीपर होती है, जो सर्वथा उनका हो जाता है। वे सस्ते हैं तो इतने सस्ते हैं कि 'हे नाथ! मैं आपका हूँ'—इतना सुनते ही तुरत कहते हैं—'हाँ बेटा! मैं तेरा हूँ।' आप विद्या, बुद्धि, योग्यता आदिका कितना ही जोर लगाओ, उससे आपका ज्ञान बढ़ सकता है, आपमें पवित्रता आ सकती है, परंतु भगवान् मिल जायँ, भगवान् वशमें हो जायँ—यह बात नहीं होगी।

इस बातको आप विशेषरूपसे याद रखें कि भगवान् सब समयमें हैं, सब जगह हैं, सबके हैं, सबमें हैं और परम दयालु हैं। तो भगवान् यहाँ हैं, अभी हैं, मेरेमें हैं, मेरे हैं और मेरेपर जरूर कृपा करेंगे। अब निराशाकी जगह कहाँ है? जैसे, बालक अपनी माँको मानता है मेरी माँ। तो वह माँपर हक लगाता है, पूरा अधिकार जमाता है। माँ इधर-उधर देखे, तो ठोड़ी पकड़कर कहता है—'मेरी तरफ देख, मेरी तरफ ही देख, बस।' तो माँको देखना पड़ता है। ऐसे ही भगवान्‌को हम कह दें कि हम तुम्हारे हैं, हमारी तरफ देखो तो भगवान्‌को हमारी तरफ देखना ही पड़ेगा। सन्तोंने कहा है—'ना मैं देखूँ औरको ना तोहिं देखन देउँ।' 'मैं औरको देखूँगा नहीं और तेरेको भी दूसरी तरफ देखने दूँगा नहीं।' ऐसा होनेपर भगवान् वशमें हो जायँगे।

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० ९। ८)

इसलिये भगवान्‌की तरफसे कोई भी निराश न होवे। कोई कैसा ही है, कैसी ही उसकी योग्यता है, उसको

भी भगवान्‌की ओरसे निराश होनेकी बात नहीं है। आपका विश्वास न बैठे तो आप जप करो, सब कुछ करो और विश्वास बैठे तो भी सब कुछ करो; कीर्तन करो; क्योंकि जप-कीर्तन आदि तो सभीको करनेके ही हैं। पर यह बात आप अच्छी तरह समझ लेवें कि इनके द्वारा भगवान्‌पर कोई अधिकार कर ले, कब्जा कर ले—ऐसी बात नहीं है। हम अपने-आपको देकर ही उनपर कब्जा कर सकते हैं। आपने अपने-आपको संसारको दे रखा है, इसलिये आप दुःख पा रहे हैं। यदि आप अपने-आपको भगवान्‌को दे दें तो निहाल हो जायँगे, इसमें कोई शंकाकी बात नहीं है।

अभी जो बात मैंने कही है, वह बिल्कुल शास्त्र-सम्मत है। आप क्रियाओंद्वारा भगवान्‌पर कब्जा नहीं कर सकते। कितनी ही योग्यता पैदा कर, लें उनपर अधिकार नहीं जमा सकेंगे, क्योंकि इनके द्वारा अधिकार उनपर होता है, जो इनसे कमजोर होते हैं यानी कम मूल्यवान् होते हैं। सौ रुपयोंके द्वारा हम उसी चीजपर कब्जा कर सकते हैं जो सौ रुपयोंसे कम कीमतकी है। सौ रुपये-की चीज है, उसके एक सौ पच्चीस रुपये दे देंगे तो वह चीज हमारे कब्जेमें आयेगी। ऐसे ही भगवान्‌को किसी योग्यताके बलपर खरीदेंगे तो योग्यतासे कम कीमतके भगवान् मिलेंगे। योग्यतासे अधिक कीमतवाले भगवान् कैसे मिलेंगे? इसलिये ये विरक्त हैं, ये त्यागी हैं, ये विद्वान् हैं, ये बड़े हैं आदि—इन योग्यताओंके द्वारा भगवान् नहीं मिलते।

इन योग्यतावालोंको ही भगवान् मिलेंगे, हम साधारण मनुष्योंको भगवान् कैसे मिलेंगे—यह धारणा गलत है। यदि आप भगवान्‌के लिये व्याकुल हो जायँ, भगवान्‌के बिना न रह सकें तो बड़े-बड़े पण्डित, विरक्त तो रीते रह जायेंगे और आपको भगवान् पहले मिल जायेंगे। उनके बिना आप नहीं रह सकते तो भगवान् भी आपके बिना नहीं रह सकते। इसलिये परमात्माकी ओरसे किसीको कभी किञ्चिन्मात्र भी निराश नहीं होना चाहिये और संसारकी आशा नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि संसार आशामात्रसे मिलेगा नहीं। यदि मिल भी जायेगा तो टिकेगा नहीं। यदि यह टिकेगा तो आपका शरीर नहीं रहेगा। संसारका अब भी अभाव है, पहले भी अभाव था और सदा अभाव ही रहेगा। और परमात्मा अब भी हैं, सदा ही रहेंगे। उनका कभी भी अभाव होता ही नहीं—यह सिद्धान्त है। अतः ऐसे नित्यनिरन्तर सर्वत्र परिपूर्ण परमात्माकी प्राप्ति क्रिया-साध्य नहीं है।

नारायण! नारायण! नारायण!

सर्वत्र तुम्हीं हो

(रचयिता—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित)

हे विश्वेश्वर! सब सर्वत्र तुम्हीं हो!
थलके थलचर, जलके जलचर, नभके नभचर मात्र तुम्हीं हो॥
भूधर जलधर, जीवोंके जीवनधर, सकल जगत् आधार तुम्हीं हो।
सिंध सरोवर, कुंज मनोहर, खगरव सुन्दर सबके अन्दर नाथ तुम्हीं हो॥
सीता-सरबस, राधा-नटवर, मीरा-मुरलीधर, प्राणीके प्राणाधार तुम्हीं हो।
गौतम गिरधर, वामन हलधर, श्रीराम धनुर्धर नाथ तुम्हीं हो॥

मानसका एक दुर्लभ प्रसङ्ग

(लेखक—डॉ० श्रीगोपालप्रसादजी 'वंशी')

[गताङ्क ८, पृ० सं० ७४० से आगे]

राजतिलकके दिन सहसा वनवासकी आवश्यकता देखकर रामचन्द्रजी तिलभर भी दुःखी न हुए और कैकेयीसे प्रसन्नतापूर्वक कहने लगे—

सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥

(रा० च० मा० २ । ४१ । ४)

अर्थात् 'वही पुत्र बड़ा भाग्यवान् है जो अपने माता-पिताके वचनोंका प्रेमी अथवा आज्ञाकारी हो, माता-पिताको संतोष देनेवाला पुत्र सारे संसारमें दुर्लभ है।'

जो अपने माता-पिता और पूज्यजनोंकी सेवाको परम धर्म माने, उनकी आज्ञाका पालन करनेमें अपना सौभाग्य और पूरी भलाई समझे और उनका रुख देखकर चले, वह सुपुत्र बड़े भाग्यशालीको मिलता है—

धन्य जन्म जगतीतल तासू। पितहिं प्रमोद चरित सुनि जासू॥

जिसके कार्योंको देख-सुनकर पिताको आनन्द हो वह पुत्र धन्य है। ऐसा पुत्र निःसंदेह दुर्लभ है।

संसार चापलूसीकी मीठी बातें पसंद करता है। ठकुरसुहाती कहते जाइये, दुनिया चावसे सुनेगी। अपना उल्लू सीधा करना हो तो खुशामदकी बातें करते जाइये—दिनको रात कहते जाइये। दुनियामें न तो चिकनी-चुपड़ी बातें करनेवालोंकी कमी है, न चिकनी-चुपड़ी सुननेवालोंकी।

प्रिय बानी जे सुनहिं जे कहहीं। ऐसे नर निकाय जग अहहीं॥

(लंकाकाण्ड)

परंतु संसारमें ऐसे कितने आदमी हैं जो दूसरोंको सच्चा लाभ पहुँचानेके इरादेसे कुछ खरी और कड़ी बातें निर्भयतापूर्वक कहनेका साहस रखते हैं? बहुत थोड़े। और ऐसे कितने विचारशील आदमी हैं जो ऐसी हितकारी परंतु कठोर बातोंको शान्तिपूर्वक सुनना चाहते हैं? बहुत थोड़े। मानसकी सम्मति है कि ऐसी खरी-खरी कहनेवाले भी दुर्लभ हैं और शान्तिपूर्वक सुननेवाले भी—

बचन परम हित सुनत कठोरे। सुनहिं जे कहहिं ते नर जग थोरे॥

(लंकाकाण्ड)

प्राणके रहनेतक अपने पण और सिद्धान्तोंका प्रत्येक परिस्थितिमें निर्वाह करनेवाले वीर संसारमें कम मिलते हैं। युद्धमें शत्रुको कभी पीठ दिखाकर न भागनेवाले और परायी स्त्रीकी ओर जन्मभर कभी कुदृष्टि न करनेवाले वीर सचमुच दुर्लभ हैं। गिरिजापूजनके लिये आयी हुई सीताजीको देखकर रामजीने लक्ष्मणसे ऐसा ही कहा था—

जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी। नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं। ते नरबर थोरे जग माहीं॥

(मानस १ । २३१ । ४)

और जो भिखारियोंको कभी भी विमुख नहीं फेरते, ऐसे उत्तम पुरुष भी संसारमें बहुत थोड़े हैं। शत्रुको कभी भी पीठ न दिखाना, मानसिक व्यभिचारसे भी आजीवन बचे रहना और भिक्षुकोंको कभी भी 'नाहीं' नहीं कहना—ये साधारण बातें नहीं हैं। इनका निर्वाह करनेवाले पुरुष दुर्लभ ही हैं।

तपस्या ही वह उपाय अथवा साधन है जिसके द्वारा बड़े-बड़े आश्चर्यजनक काम किये जा सकते हैं। विलास-प्रेमी प्राणी कभी तपस्या कर ही नहीं सकता। तपस्या अन्तमें परम सुखदायक परिणाम तो उत्पन्न करती है, परंतु आरम्भमें वह बड़ी कष्टदायक मालूम होती है। इससे शरीरका तो पोषण नहीं होता, पर आत्माका होता है। तपस्वीका शरीर प्रायः क्षीण परंतु तेजवान् होता है। तपके बलपर ब्रह्मा विश्वकी रचना करते, विष्णु सृष्टिकी रक्षा करते और शिव संसारका संहार करते हैं। कठिन तपस्याके द्वारा ही पार्वतीजीने असम्भव कार्य कर दिखाया था—शंकरजीके समान दुराराध्य पतिको

प्राप्त कर लिया था। सारा संसार तपस्याके सहारे टिका हुआ है। अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ, अमर कीर्ति, बड़े-बड़े पद सब तपस्याके बलपर ही मिल सकते और मिलते हैं। इसीलिये कहा गया है कि—

जनि आचरजु करहु मन माहीं। सुत तप तें दुर्लभ कछु नाहीं॥
(मानस १ । १६३ । १)

अतएव अविचलित तपस्वीका जीवन बहुत दुर्लभ जीवन है।

मनुष्य-जीवनमें ऐसे प्रसङ्ग बार-बार नहीं आते, जब प्रत्येक परिस्थितिमें हमारा हित-ही-हित हो—जीतमें भी जीत हो और हारमें भी जीत हो, लाभमें लाभ हो और हानिमें भी लाभ हो। दोनों हाथोंमें लड्डू रहना बड़े भाग्यका चिह्न है; परंतु ऐसा बहुत कम प्रसङ्गोंमें सम्भव होता है। भरत-वनगमनके समय गुह निषादको ऐसा ही सौभाग्यपूर्ण अवसर मिला था, इसीलिये उसने कहा था—

समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभंगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बड़ें भाग असि पाइअ मीचू॥

युद्धमें शत्रुसे लड़ते-लड़ते वीरगति प्राप्त करना बड़ा दुर्लभ है। इससे स्वर्ग मिलता है (गीता २ । ३७)। गङ्गाजीके किनारेपर मरनेवालोंकी इस लोकमें बड़ी सराहना की जाती है, फिर खटियामें न सड़कर किसी राम-काज- (पुण्य-कार्य अथवा परोपकार-)के लिये इस नाशवान् शरीरको कोई बलिदान कर देना चाहे तो फिर क्या पूछना है! ऐसी दुर्लभ मृत्यु संसारमें बड़े भाग्यसे मिलती है। ऐसा स्वर्णसंयोग दुर्लभ है। इसीलिये निषादराजने कहा था—'दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें।'

'पार गये तो पार है, अटक गये तो पार।'

पुत्र, धन, स्त्री, सुन्दर घर और परिवार बड़े मूल्यवान् पदार्थ हैं। इनमें बड़ा आकर्षण है—इनके पाशमें सारा संसार बँधा है। परंतु इनके एक बार नष्ट होनेपर प्रयत्नसे फिर मिलनेकी सम्भावना रहती है। ये बार-बार होते और मिटते रहते हैं। सगा भाई एक बार नष्ट हुआ तो फिर नहीं मिल सकता। सगे भाईका बार-बार मिल सकना दुर्लभ है। लक्ष्मण-मूर्च्छाके समय विलाप करते हुए रामजीने यही आशय प्रकट किया था—

सुत बित नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहिं बारा॥
अस बिचारि जियँ जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता॥
(मानस ६ । ६१ । ४)

उनका तात्पर्य यह है कि जगत्‌में सब कुछ मिल सकता है, पर प्रेमपूर्ण और विश्वसनीय सहोदर भाईका मिलना दुर्लभ है।

संसारमें बहुत-सी चीजें दुर्लभ हैं। भक्तशिरोमणि तुलसीदासजीने इस विषयपर बड़ा अमूल्य विवेचन किया है।

उत्तरकाण्डमें पार्वतीजीने महादेवजीसे अपनी जो शंका की थी उससे मालूम होता है कि संसारमें किस-किस प्रकारके जीव कितने दुर्लभ हैं। पार्वतीजी कहती हैं—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ इक होइ धर्म ब्रतधारी॥

हजार मनुष्योंमें धर्मव्रतधारी कोई एकाध विरला मानव होता है और—

धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥

विलाससे दूर रहकर सीधा-सादा जीवन व्यतीत करनेवाला और विराग-प्रेमी व्यक्ति तो करोड़ धर्मशीलोंमें कोई विरला ही होता है, अर्थात् ऐसा व्यक्ति अरबोंमें एक-आध निकलता है। 'सौ में सती और लाखोंमें यती' की कहावत प्रसिद्ध ही है और—

कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥

वेदका कथन है कि करोड़ों विरक्तोंमेंसे यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेवाला कोई विरला ही होता है और—

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ॥

करोड़ों ज्ञानियोंमें जीवन्मुक्त तो कोई विरला ही होता है। और—

तिन्ह सहस्र महँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥

हजारों जीवनमुक्तोंमें सम्पूर्ण आनन्दसे परिपूर्ण विज्ञानी और परमात्मामें लीन रहनेवाला पुरुष तो और भी अधिक दुर्लभ है । ऐसा व्यक्ति संसारमें बड़ी कठिनाई और महान् सौभाग्यसे ही मिल सकता है ।

तात्पर्य यह कि अरबों-खरबों लोगोंके इस संसारमें धर्मव्रती बहुत थोड़े हैं, धर्मव्रतियोंमें भी विरक्त और विषय-प्रेम-त्यागी सभी नहीं होते । कोई-कोई ही होते हैं । विरक्तोंमें भी सब यथार्थ ज्ञानी नहीं होते और ज्ञानियोंमें भी ब्रह्मलीन प्राणी तो बड़े दुर्लभ हैं—

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी । जीवनमुक्त ब्रह्म पर प्रानी ॥

और ईश्वरानुरागी होना तो इन सबमें भी अत्यन्त दुर्लभ है—

सब ते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत मद माया ॥

मोह, ममता, वासना आदिका त्यागकर निष्काम भक्ति करनेवाले तो अत्यन्त दुर्लभ हैं ।

देखा आपने, गुसाईंजीने वेदोंका सहारा पकड़कर और गहरी छान-बीनकर किस क्रमसे पहले दूध, दूधसे दही और छाँछ, छाँछसे मक्खन और मक्खनसे घी निकाला है । तात्पर्य यह है कि धर्मशीलता दुर्लभ है, उससे अधिक दुर्लभ है विरक्ति । विरक्ति और विषय-बिमुखतासे भी अधिक दुर्लभ है सम्यक् ज्ञान, ज्ञानसे भी अधिक दुर्लभ अवस्था है जीवन-मुक्ति तथा जीवन-मुक्तिसे भी अधिक दुर्लभ है ब्रह्मलीनता और ब्रह्मलीनतासे भी अधिक दुर्लभ है ईश्वर-भक्ति ।

गुसाईंजीके मानसके जो अमूल्य वचन यहाँ दिये गये हैं उनसे क्या सिद्ध होता है ? किसी वचनसे सिद्ध होता है कि मनुष्य-शरीर दुर्लभ है, किसीसे माळूम होता है कि सत्सङ्ग अत्यन्त दुर्लभ है, किसी चौपाईसे पता चलता है कि मनसा-वाचा-कर्मणा आचरणकी एकता दुर्लभ है, किसीसे माळूम होता है कि खरी और कल्याणकारी बातें कहने-सुननेवाले दुर्लभ हैं, किसीसे माळूम होता है कि अटल बीरता दुर्लभ है, किसी वचनका आशय है कि श्रेष्ठ मृत्युका स्वर्णसंयोग दुर्लभ है, किसीसे माळूम होता है कि तपस्यापूर्ण जीवन दुर्लभ है और किसी विवेचनसे पता चलता है कि धर्मशीलता, विषय-विमुखता, निर्मल ज्ञान, जीवन-मुक्ति, ब्रह्मलीनता एवं भक्ति दुर्लभ और मूल्यवान् है ।

परंतु जब यह मनुष्य-शरीर ही न रहे, तब सत्सङ्ग कैसे मिले, जब शरीर न हो तब अच्छा आचरण किसके द्वारा किया जाय, जब शरीर ही न रहे तब सद्गुणी पुत्र कैसे मिले, शरीरके अभावमें धर्मशीलता, तपस्या, विरक्ति, ज्ञान और भक्तिके लिये साधन किसे बनाया जाय ? इसलिये उत्तरकाण्डके अन्तमें जो कहा गया है कि मनुष्य-शरीररूपी दुर्लभ पदार्थकी भावना सभी करते हैं, वह हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार निरन्तर ध्यानमें रखनेयोग्य है । काकभुशुण्डिजी गरुड़से कहते हैं—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाचत जेही ॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी । ग्यान बिराग भगति सुभ देनी ॥

यह मूल्यवान् शरीर स्वर्ग और अपवर्गकी सीढ़ी है । इसके द्वारा परम सुखदायक ज्ञान, विराग और भक्तिका साधन इच्छानुसार किया जा सकता है, परन्तु क्या ऐसा जड़ शरीर दुर्लभ है ? क्या नरक दिलानेवाला शरीर मूल्यवान् ? क्या इसीकी इतनी प्रशंसा की जा रही है ? नहीं, दुर्लभ है पुरुषार्थी शरीर, जिसकी आत्मा जाग्रत् और चैतन्य हो, जो अपने भीतरी शत्रुओंसे आजीवन युद्ध करता रहे और जो मूर्खकी तरह काँचका सौदा न कर मणिका सौदा करे, श्रीमान् शंकराचार्यजी कहते हैं—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥

अर्थात् मनुष्य-जन्म, मोक्षकी इच्छा और महापुरुषोंका सत्सङ्ग—ये तीनों दुर्लभ हैं । ये तभी मिलते हैं जब

ईश्वरकी कृपा हो । जब मनुष्य-शरीर ही न हो तब मुमुक्षु कौन बने और सज्जनोंका सत्सङ्ग कौन करे ? मूल कारण तो यह शरीर ही है । इसीलिये यह अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है । परन्तु हम इसका कैसा उपयोग करते हैं ? इसका कैसा उपयोग होना चाहिये ? हमारी प्रकृति, प्रवृत्ति, परिस्थिति और शक्तिके अनुसार इसका क्या उपयोग किया जा सकता है ? प्रत्येक विचारवान् पाठकको इन प्रश्नोंपर तुरन्त विचार करना चाहिये ।

संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं जो दुर्लभ हो । परन्तु सत्कर्मरहित और पुरुषार्थहीन जीवोंको बहुत-से पदार्थ कभी नहीं मिल सकते । कुछ स्थायी और मूल्यवान् पदार्थ ऐसे भी हैं जो सचमुच दुर्लभ हैं जो सत्कर्मशील और पुरुषार्थी व्यक्तियोंको भी शीघ्र नहीं मिल सकते । तब ऐसा भाग्यवान् मानव कौन है, जो इन तथा ऐसी सब दुर्लभ चीजोंको प्राप्त करना चाहे तो अवश्य प्राप्त कर ले ? इस प्रश्नका उत्तर गुसाईंजी ही देते हैं—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

इस लेखमें जितने दुर्लभ पदार्थ बतलाये गये हैं, और जो नहीं बतलाये गये हैं वे भी परोपकारी और पुरुषार्थी प्राणीको (यदि वह प्राप्त करना चाहे तो) अवश्य मिल सकते हैं । परहितके सिक्कोंसे-नकली नहीं, असली सिक्कोंसे, आप संसारमें किसी भी अत्यन्त दुर्लभ पदार्थको जरूर प्राप्त कर सकते हैं ।

विचार करनेकी बात है, महात्मा तुलसीदासजीने जिन पदार्थोंको दुर्लभ बतलाया है वे यथार्थमें कितने दुर्लभ हैं ?

ईमानदार मजदूर लड़का

किसी अमीरके घरमें एक दिन धुआँसा साफ करनेके लिये एक मजदूर लड़केको बुलाया गया । लड़का सफाई करने लगा । वह जिस कमरेका धुआँसा उतार रहा था, उसमें तरह-तरहकी सुन्दर चीजें सजायी रक्खी थीं । उन्हें देखनेमें उसे बड़ा मजा आ रहा था । उस समय वह अकेला ही था, इसलिये प्रत्येक चीजको उठा-उठाकर देखने लगा । इतनेमें उसे एक बड़ी सुन्दर हीरे-मोतियोंसे जड़ी हुई सोनेकी घड़ी दिखायी दी । वह घड़ीको हाथमें उठाकर देखने लगा । घड़ीकी सुघड़पनापर उसका मन लुभा गया । उसने कहा—'काश ! ऐसी घड़ी मेरे पास होती ।' उसके मनमें पाप आ गया, उसने घड़ी चुरानेका मन किया । परंतु दूसरे ही क्षण वह घबड़ाकर जोरसे चिल्ला उठा—'अरे रे ! मेरे मनमें यह कितना बड़ा पाप आ गया । यदि मैं चोरी करके पकड़ा जाऊँगा तो मेरी कितनी दुर्दशा होगी । सरकार सजा देगी, जेलखाने जाकर पत्थर फोड़ने पड़ेंगे और कोल्हूमें जुतना पड़ेगा; ईमान तो गया ही । फिर कौन मेरा विश्वास करके अपने घरमें घुसने देगा ? यदि मनुष्यके हाथसे न भी पकड़ा गया तो भी क्या हुआ, ईश्वरके हाथसे तो कभी छूट नहीं सकता । माँ बार-बार कहा करती है कि हम ईश्वरको नहीं देखते, पर ईश्वर हमको सदा देखता रहता है । उससे छिपाकर हम कोई काम कर ही नहीं सकते । वह घने अँधेरेमें भी देख पाता है । यहाँतक कि मनके अंदरकी बातको भी देखता रहता है ।'

यों कहते-कहते लड़केका चेहरा उतर गया, उसका शरीर पसीने-पसीने हो गया और वह काँपने लगा । घड़ीको यथास्थान रखकर वह फिर जोरसे कहने लगा 'लालच बहुत ही बुरी चीज है । मनुष्य इस लालचमें फँसकर ही चोरी करता है । भला, मुझे धनियोंकी घड़ीसे क्या मतलब था ? लालचने ही मेरे मनको

बिगाड़ा । पर दयालु भगवान्‌ने मुझको बचा लिया, जो माँकी बात मुझे समयपर याद आ गयी। अब मैं कभी लालचमें नहीं पड़ूँगा । सचमुच चोरी करके अमीर बननेकी अपेक्षा धर्मपर चलकर गरीब रहना बहुत अच्छा है। चोरी करनेवाला कभी निर्भय होकर सुखकी नींद नहीं सो सकता, चाहे वह कितना ही अमीर क्यों न हो । अरे ! चोरीका मन होनेका यह फल है कि मुझे इतना दुःख हो रहा है । कहीं मैं चोरी कर लेता तब तो पता नहीं मुझे कितना भयानक कष्ट उठाना और दुःख झेलना पड़ता । इतना कहकर लड़का शान्तचित्तसे अपने काममें लग गया ।

घरकी मालकिन बगलके कमरेसे सब कुछ देख-सुन रही थी। वह अब तुरंत लड़केके पास आ गयी और पूछने लगी—'लड़के ! तूने घड़ी ली क्यों नहीं ?' लड़का इतना सुनते ही सुन्न हो गया, काटो तो खून नहीं । वह सिर थामकर दीनभावसे जमीनपर बैठ गया और काँपने लगा । उसकी जबान बंद हो गयी और आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह चली ।

लड़केकी दीन दशा देखकर मालकिनको दया आ गयी । उसने बड़े मीठे स्वरोंमें कहा—'बेटा ! घबड़ा मत । मैंने तेरी सभी बातें सुनी हैं । तू गरीब होकर भी इतना भला, ईमानदार और धर्म तथा ईश्वरसे डरनेवाला है, यह देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई है । तेरी माँको धन्य है, जो उसने तुझको ऐसी अच्छी सीख दी । तुझपर ईश्वरकी बड़ी ही कृपा है, जो उसने तुझको लालचमें न फँसनेकी ताकत दी । बेटा ! सचेत रहना । कभी जीको लालचमें न फँसने देना । मैं तेरे खाने-पीनेका और किताबोंका प्रबन्ध कर देती हूँ । तू कलसे पाठशालामें जाकर पढ़ना शुरू कर दे । भगवान् तेरा मङ्गल करेंगे ।' इतना कहकर मालकिनने उसे अपने हाथोंसे उठाकर हृदयसे लगा लिया और अपने आँचलसे आँसू पोंछ दिये । फिर उसके हाथमें कुछ रुपये देकर कहा—'तेरी इस ईमानदारीका कुछ तो इनाम तुझे अभी मिलना चाहिये न ?'

मालकिनके स्नेहभरे शब्दोंसे लड़केका हृदय खुशीके मारे उछल उठा । उसके मुखपर कृतज्ञताभरी प्रसन्नता छा गयी । वह दूसरे ही दिनसे पाठशालामें जाने लगा और अपने परिश्रम तथा सत्यके फलस्वरूप आगे चलकर बड़ा विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुष बना ।

यौवन और संयम

यौवनमें धीरे-धीरे संयम बढ़ाते हुए भक्ति करोगे तो इसी जीवनमें प्रभु प्राप्त हो जायँगे । पर जिसका यौवन भोग-विलासके पीछे ही भटक रहा है, उसे इस जीवनमें प्रभुकी प्राप्ति नहीं हो सकती । हाँ, यदि यह जीव वृद्धावस्थामें भक्ति प्रारम्भ करे तो उसका अगला जीवन जरूर सुधर सकता है; परंतु वर्तमान जीवनमें तो प्रभु-दर्शनकी सार्थकता प्राप्त होती ही नहीं है। अतः वर्तमान जीवनको सुधारने और सार्थक बनानेका एक मात्र उपाय युवावस्थामें विवेकी बनकर संयम बढ़ाते जाना है ।

गीताका कर्मयोग—६६

[श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क सं० ८, पृष्ठ-संख्या ७४९ से आगे]

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

भावार्थ—यज्ञका अनुष्ठान करनेवालोंमें कुछ योगीलोग श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन करते हैं। तात्पर्य यह है कि वे इन्द्रियोंका इस प्रकार संयम कर लेते हैं कि वे भोगबुद्धिसे विषयोंमें प्रवृत्त ही नहीं होतीं। वे विषयोंसे सर्वथा उपरत हो जाती हैं। इस प्रकार इन्द्रियोंका संयमरूप हो जाना ही संयमरूप अग्नियोंमें इन्द्रियोंका हवन करना है।

दूसरे योगीलोग शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करते हैं। तात्पर्य यह है कि विषयोंका इन्द्रियोंके साथ संयोग होनेपर भी विषय इन्द्रियोंपर कोई असर नहीं करते। इन्द्रियोंमें विषयोंके प्रति आकर्षण, प्रियताका सर्वथा अभाव हो जाता है। इस प्रकार विषयोंका सेवन करते हुए भी उनमें राग-आसक्ति न होना ही इन्द्रियरूप अग्नियोंमें विषयोंका हवन करना है।

अन्वय—अन्ये, श्रोत्रादीनि, इन्द्रियाणि, संयमाग्निषु, जुह्वति, अन्ये, शब्दादीन्, विषयान्, इन्द्रियाग्निषु, जुह्वति ॥ २६ ॥

पद-व्याख्या—अन्ये—अन्य (योगीलोग)।

श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति— श्रोत्रादि समस्त इन्द्रियोंका संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं।

यहाँ संयमरूप अग्नियोंमें इन्द्रियोंकी आहुति देनेको यज्ञ कहा गया है। तात्पर्य यह है कि एकान्तकालमें श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण—इन पाँचों इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयों (क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) की ओर बिल्कुल प्रवृत्ति न हो। इन्द्रियाँ संयमरूप ही बन जायँ।

पूरा संयम तभी समझना चाहिये, जब इन्द्रियों, मन, बुद्धि तथा अहम्—इन सबमेंसे राग-आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाय।*

---

* यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २। ५८)

'कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है—ऐसा समझना चाहिये।'

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥
(गीता २। ५९)

'इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, पर उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। (किंतु) इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।'

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
(गीता २। ६८)

'हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।'

अन्ये–(और) अन्य (योगीलोग) ।

शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियाग्निषु जुह्वति—शब्दादि विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं ।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय हैं । विषयोंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन करनेसे वह यज्ञ हो जाता है । तात्पर्य यह है कि व्यवहारकालमें विषयोंका इन्द्रियोंसे संयोग होते रहनेपर भी इन्द्रियोंमें कोई विकार उत्पन्न न हो ।* इन्द्रियाँ राग-द्वेषसे रहित हो जायँ । इन्द्रियोंमें राग-द्वेष उत्पन्न करनेकी शक्ति विषयोंमें रहे ही नहीं ।

प्रस्तुत श्लोकमें वर्णित दोनों प्रकारके यज्ञोंमें राग-आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर ही सिद्धि (परमात्मप्राप्ति) होती है । राग-आसक्तिको मिटानेके लिये ही दो प्रकारकी प्रक्रियाका यज्ञरूपसे वर्णन किया गया है—

पहली प्रक्रियामें साधक एकान्तकालमें इन्द्रियोंका संयम करता है । फिर विवेक-विचार, जप-ध्यान आदिसे इन्द्रियोंका संयम होने लगता है । पूरा संयम होनेपर जब रागका अभाव हो जाता है, तब एकान्तकाल और व्यवहारकाल—दोनोंमें उसकी समान स्थिति रहती है ।

दूसरी प्रक्रियामें साधक व्यवहारकालमें राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंसे व्यवहार करते हुए मन, बुद्धि और अहम्से भी राग-द्वेषका अभाव कर देता है । रागका अभाव होनेपर व्यवहारकाल और एकान्तकाल—दोनोंमें उसकी समान स्थिति रहती है ।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७ ॥

भावार्थ—यज्ञका अनुष्ठान करनेवाले दूसरे कई योगीलोग इन्द्रियों तथा प्राणोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंका आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन करते हैं अर्थात् इन्द्रियों तथा प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर समाधि लगाते हैं । समाधि लगाते समय उनका परमात्मविषयक ज्ञान पूर्णतः जाग्रत् रहता है । समाधि सिद्ध होनेपर उन्हें समाधिसे अतीत तत्त्व-(परमात्मा-) की प्राप्ति हो जाती है ।

अन्वय—**अपरे, सर्वाणि, इन्द्रियकर्माणि, च, प्राणकर्माणि, ज्ञानदीपिते, आत्मसंयमयोगाग्नौ, जुह्वति ॥ २७ ॥**

पद-व्याख्या—**अपरे**—अन्य (योगीलोग) ।

सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि—सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी क्रियाओंको ।

इस श्लोकमें समाधिको यज्ञका रूप दिया गया है । कुछ योगीलोग दसों इन्द्रियोंकी क्रियाओंका समाधिमें हवन किया करते हैं । तात्पर्य यह है कि समाधि-अवस्थामें मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों- (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों-)की क्रियाएँ रुक जाती हैं । इन्द्रियाँ सर्वथा निश्चल और शान्त हो जाती हैं ।

च प्राणकर्माणि—और प्राणोंकी क्रियाओंको ।

---

* रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् । आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते । प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
(गीता २ । ६४-६५)

'अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है । अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भली-भाँति स्थिर हो जाती है ।'

समाधिरूप यज्ञमें प्राणोंकी क्रियाओंका भी हवन हो जाता है अर्थात् समाधिकालमें प्राणोंकी क्रियाएँ भी रुक जाती हैं। समाधिमें प्राणोंकी गति रोकनेके दो प्रकार हैं—

एक तो हठयोगकी समाधि होती है, जिसमें प्राणोंको रोकनेके लिये कुम्भक किया जाता है। कुम्भकका अभ्यास बढ़ते-बढ़ते प्राण रुक जाते हैं जो घंटोंतक, दिनोंतक रुके रह सकते हैं। इस प्राणायामसे आयु बढ़ती है; जैसे वर्षा होनेपर जल बहने लगता है तो जलके साथ-साथ बालू भी आ जाती है, उस बालूमें मेढक दब जाता है, वर्षा बीतनेपर जब बालू सूख जाती है, तब मेढक उस बालूमें ही चुपचाप सूखे हुएकी भाँति पड़ा रहता है, उसके प्राण रुक जाते हैं, पुनः जब वर्षा आती है तो वर्षाका जल ऊपर गिरनेपर मेढकमें पुनः प्राणोंका संचार हो जाता है और वह टर्राने लग जाता है।

दूसरे प्रकारमें मनको एकाग्र किया जाता है। मन सर्वथा एकाग्र होनेपर प्राणोंकी गति अपने-आप रुक जाती है।

ज्ञानदीपिते—ज्ञानसे प्रकाशित।

समाधि और निद्रा—दोनोंमें कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है, इसलिये बाहरसे दोनोंकी समान अवस्था दिखायी देती है। यहाँ 'ज्ञानदीपिते' पदसे समाधि और निद्रामें परस्पर भिन्नता सिद्ध की गयी है। तात्पर्य यह कि बाहरसे समान दिखायी देनेपर भी समाधिकालमें 'एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही सर्वत्र परिपूर्ण है' ऐसा ज्ञान प्रकाशित (जाग्रत्) रहता है और निद्राकालमें वृत्तियाँ अविद्यामें लीन हो जाती हैं। समाधिकालमें प्राणोंकी गति रुक जाती है और निद्राकालमें प्राणोंकी गति चलती रहती है। इसलिये निद्रा आनेसे समाधि नहीं लगती।

आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति—आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं।

समाधिरूप यज्ञ करनेवाले योगीलोग इन्द्रियों तथा प्राणोंकी क्रियाओंका समाधियोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं अर्थात् मन-बुद्धिसहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणोंकी क्रियाओंको रोककर समाधिमें स्थित हो जाते हैं। समाधिकालमें सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और प्राण अपनी चञ्चलता खो देते हैं। एक सच्चिदानन्दघन परमात्माका ज्ञान ही जाग्रत् रहता है।

मेरे प्रभु कौ सुभाउ !

(रचयिता—श्रीनारायणदत्तजी शर्मा, एम्० ए०)

(भक्तकी) थोरिहु पीर बहुत दुख पावत।
दीनबंधु करुनानिधान वे भक्तकी टेर भाजतेइ आवत॥
कान परत कातर सुर जन कौ नांगेह पायन धावत।
जब जब भीर परति निज जन पै छिन मँह आय छुड़ावत॥
गज, प्रह्लाद, गाय, गोपी, ध्रुव कछु तिहि साख बतावत।
बसन रूपधरि द्रुपद-सुताकी केहि विधि लाज बचावत॥
करुनामय सुभाउ मेरे प्रभु कौ श्रुति पुरान जस गावत।
'दत्त' सुकवि भव व्याल ग्रसित कौं काहे नहिं मुकरावत॥

अमृत-बिन्दु

जब साधकका एकमात्र उद्देश्य परमात्मप्राप्तिका हो जाता है, तब उसके पास जो भी सामग्री (वस्तु, परिस्थिति आदि) होती है, वह सब साधनरूप (साधन-सामग्री) हो जाती है।

जिसकी बुद्धिमें जड़ता-(सांसारिक भोग और संग्रह-) का ही महत्त्व है, ऐसा मनुष्य कितना ही विद्वान् क्यों न हो, उसका पतन अवश्यम्भावी है। परन्तु जिसकी बुद्धिमें जड़ताका महत्त्व नहीं है और भगवत्प्राप्ति ही जिसका उद्देश्य है, ऐसा मनुष्य विद्वान् न भी हो, तो भी उसका उत्थान अवश्यम्भावी है।

केवल दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेसे कर्मोंका प्रवाह संसारकी ओर हो जाता है और साधक कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

राग-द्वेष अन्तःकरणके आगन्तुक विकार हैं, धर्म नहीं। धर्म स्थायी रहता है और विकार अस्थायी अर्थात् आने-जानेवाले होते हैं। राग-द्वेष अन्तः-करणमें आने-जानेवाले हैं। अतः इन्हें मिटाया जा सकता है।

पारमार्थिक मार्गमें राग-द्वेष ही साधककी साधन-सम्पत्तिको लूटनेवाले मुख्य शत्रु हैं।

वास्तवमें अपना उद्धार करना अथवा परमात्मतत्त्वको प्राप्त करना मनुष्यमात्रका 'स्वधर्म' है; क्योंकि मनुष्यशरीर केवल परमात्मप्राप्तिके लिये ही मिला है।

शरीरसे अपना सम्बन्ध मानकर भोग और संग्रहमें लगना मनुष्यमात्रका 'परधर्म' है।

नित्यप्राप्त परमात्माका अथवा अपने स्वरूपका अनुभव करानेवाले सब साधन 'स्वधर्म' हैं और संसारकी ओर ले जानेवाले सब कर्म 'परधर्म' हैं।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे किये जानेवाले तीर्थ, व्रत, दान, तप, चिन्तन, ध्यान, समाधि आदि समस्त शुभ कर्म सकामभावसे अर्थात् अपने लिये करनेपर 'परधर्म' हो जाते हैं और निष्कामभावसे अर्थात् दूसरोंके लिये करनेपर 'स्वधर्म' हो जाते हैं।

स्वरूप निष्काम है और सकामभाव प्रकृतिके सम्बन्धसे आता है।

कामना उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने कर्तव्यसे, अपने स्वरूपसे और अपने इष्ट-(भगवान्-) से विमुख हो जाता है और नाशवान् संसारके सम्मुख हो जाता है।

परमात्मतत्त्वसे विमुख हुए बिना कोई सांसारिक भोग भोगा ही नहीं जा सकता और रागपूर्वक सांसारिक भोग भोगनेसे मनुष्य परमात्मासे विमुख हो ही जाता है।

सांसारिक इच्छा उत्पन्न होते ही पारमार्थिक मार्गमें धुआँ हो जाता है। यदि इस अवस्थामें सावधानी नहीं हुई तो कामना और अधिक बढ़ जाती है। कामना बढ़नेपर तो पारमार्थिक मार्गमें अँधेरा ही हो जाता है।

साधकको न तो लौकिक इच्छाओंकी पूर्तिकी आशा रखनी चाहिये और न पारमार्थिक इच्छाकी पूर्तिसे निराश ही होना चाहिये।

कामनाओंके त्यागमें सब स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ हैं। परन्तु कामनाओंकी पूर्तिमें कोई भी स्वतन्त्र, अधिकारी, योग्य और समर्थ नहीं है।

किसी भी भोगको भोगें, अन्तमें उस भोगसे अरुचि अवश्य उत्पन्न होती है—यह नियम है। परन्तु मनुष्य भूल यह करता है कि वह उस अरुचिको महत्त्व देकर उसे स्थायी नहीं बनाता।

जिससे दूसरोंका हित होता है, वही कर्तव्य होता है। जिससे किसीका भी अहित होता है, वह अकर्तव्य होता है।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

सेवाव्रती रिक्शावाला

स्वप्न साकार हुआ। श्रीश्रीजगन्नाथपुरीकी अविच्छिन्न महिमा निरन्तर सुनती आ रही थी। मनमें उत्कट अभिलाषा थी कि इस पावनतीर्थ-धामके दर्शन कर नेत्र सफल करूँ। संयोग-वश मनःकामना पूर्ण हुई। कलकत्तेसे 'पुरी-एक्सप्रेस' रेलमें बैठकर मैं तथा मेरे पति दिनाङ्क १५-३-८४को प्रातः ८ बजे पुरी पहुँचे। स्टेशनपर अनेक पंडोंके बीच हमारे पूर्वजोंको जाननेवाला गोवर्धन पंडा, हम दोनोंको एक रिक्शेमें बैठाकर हमारे पहलेसे आरक्षित अवकाश-गृहमें ले गया। जिस रिक्शेमें बैठकर हमलोग गये थे, उसका चालक सज्जन पुरुष था। उसके व्यवहारसे हम दोनों बहुत ही प्रभावित हुए। वह निरन्तर हमारे अवकाश-गृहके नीचे खड़ा हमें पुरीके दर्शनीय स्थलोंमें घुमानेके लिये प्रस्तुत रहता। सभी स्थानोंका उसे विस्तृत ज्ञान था। पता नहीं, किस दैविक-प्रेरणासे प्रेरित होकर वह हम-जैसे अपरिचित यात्रियोंके प्रति इतना उदार था। जीर्ण-शीर्ण कपड़ोंमें लिपटा हुआ वह अवश्य ही कोई देव-दूत-जैसा हमें लगता था।

हम लोग नहा-धोकर निवृत्त हुए। फिर १० बजे सुबह ही वही 'गोवर्धन पंडा' उसी रिक्शेमें श्री-जगन्नाथजी, बलरामजी एवं सुभद्राजीके भव्य मन्दिरमें हमें ले गया। श्रीश्रीजगन्नाथजीके चरणोंमें पहुँचकर मन पूर्णतया श्रद्धासे अभिभूत हो उठा। समस्त स्थानोंकी परिक्रमा कर अपने अवकाशगृहमें लौट आये।

दिनाङ्क १६-३-८४ को एक पर्यटक-बसद्वारा हमलोग पुरीके अन्य पावन तीर्थस्थलोंके भ्रमणके लिये गये। 'गाइड' बड़े ही सुरुचि-पूर्ण ढंगसे मार्गमें आनेवाले दर्शनीय स्थलोंका परिचय दे रहा था। भव्य कोणार्क-मन्दिर, भुवनेश्वरनगरी, जैन-मन्दिर तथा रास्तेके अन्य प्रसिद्ध तीर्थों एवं भवनोंका विवरण उसने दिया। इसके पश्चात् हमलोग 'नन्दन-कानन' नामकी वनस्थलीको देखते हुए लौटे।

दिनाङ्क १७-३-८४ को हमें 'कलिंगा एक्सप्रेस' द्वारा राउरकेला इस्पातनगरीके लिये प्रस्थान करना था। अवकाश-गृहके बाहर हमारा चिर-परिचित मानवताका प्रतीक रिक्शेवाला उपस्थित था और हमें स्टेशन पहुँचानेकी बाट देख रहा था। उसने स्वयं ही आकर हमारा सामान रिक्शेमें रक्खा और विभिन्न भवनोंका वर्णन करता हुआ हमें स्टेशनकी ओर ले चला। हमें ट्रेनमें बैठाकर ही वह वापस जानेके लिये तैयार हुआ।

हमलोग उसके व्यवहारसे आश्चर्यचकित थे। हमें ऐसा लगा कि यह तो कोई सेवाव्रती है, जो भगवान् जगदीश्वरकी पुरीमें रहकर रिक्शाके माध्यमसे आनेवाले यात्रियोंकी समुचित पुरस्कारमें निश्छल सेवा करता है। मैं तो उस रिक्शाचालककी इस सेवा-भावनाको देखकर नतमस्तक-सी हो गयी। मेरे मानसमें 'मानस'की यह पंक्ति उतर आयी—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

आज भी मुझे उसकी विस्मृति नहीं हो पाती है, जिसके साहचर्यसे हम पुरीमें निश्चिन्ततापूर्वक भ्रमण कर सके।

—श्रीमती मीरा अग्रवाल

(२)

आयुर्वेदके प्रचारकी आवश्यकता

१९७९ ई० के सितम्बरमें मेरी छातीमें दर्द प्रारम्भ हुआ। कुर्सी उठाकर दूसरे स्थानपर रखनेपर ही हाँफने लगता और चक्कर आने लगते। डाक्टरोंने निरीक्षण करके बता दिया कि 'हृदयकी एक सफेद नसमें चरबीकी परत जम गयी है; उसे साफ करनेकी

कोई ओषधि ही नहीं है। किसी मोटी नसका टुकड़ा काटकर यहाँ लगानेसे रोग मिटकर शान्ति मिल सकती है या नहीं—यह निश्चित नहीं है। अमेरिकामें गतवर्ष ऐसे १,३५,००० आपरेशन हुए। परंतु इसमें रोगी व्यक्ति पूर्णरूपसे स्वस्थ नहीं होते। अमेरिकामें ऐसे ५ लाख व्यक्ति हैं, जिन्हें यह रोग हुआ है।'

मुझे लगा कि मेरी ऐसी अवस्थामें जीवित रहना व्यर्थ है। इतनेमें समाचार मिला कि भारतके एक योगी अमेरिका आये हैं और असाध्य रोगोंका कुशलतासे उपचार करते हैं। मैं उनसे मिला। उन्होंने मेरी स्थिति समझकर यौगिक उपचार प्रारम्भ किये; आयुर्वेदिक ओषधि दी; आसन भी कराये; आहार-विहार संयमित कराये। यानमें बैठने लगा और प्राणायाम सीखा।

इतनेमें योगीजी भारत चले गये। मैं दूसरे योगियोंसे मिला, परन्तु वह सब व्यर्थ गया। मैंने भारतमें गये हुए उन योगीजीको उनके निवास-स्थानपर तारसे सूचना दी कि मैं भारत आ रहा हूँ। वे शिमलामें थे। उन्होंने सहर्ष मेरा स्वागत किया और अपने साथ घुमाने ले गये।

आश्चर्य कि उनके साथ मैं पर्वतोंपर चढ़ा और उतरा, परंतु शरीरमें कहीं पीड़ा न हुई। योगीजीने कहा—'अब तुमको भी विश्वास हो गया होगा कि रोग नहीं रहा है। परंतु आहार-विहार ठीक रखना, आसन करते रहना, शरीरका यन्त्र खराब न हो, इसका ध्यान रखना।

थोड़े दिनोंके बाद मैं उनसे अलग हुआ। मैं एकदम स्वस्थ हो गया था। मेरी भारतवासियोंसे विनती है कि संसारभरमें फैल रहे हृदयरोगको मिटानेकी जो कला आपके पास है, वह विश्वमें किसीके पास नहीं है। उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। उसका गौरव आप सबको बढ़ाना चाहिये। इस प्रकार आप विश्वका कल्याण अवश्य करेंगे। योगासन आदि आयुर्वेदके जो अंग हैं, उन सबको विशुद्ध रखनी, उनमें श्रद्धा बढ़ानी चाहिये।

—माइकेल बी॰ गुडमेन

(३)

दयाकी मूर्ति सूनी गोदवाली माता

कुछ दिनों पूर्वकी बात है। राजस्थानकी भयानी-मंडी नगरीके एक सम्भ्रान्त गुजराती परिवारके दस-वर्षीय बालकको द्रुतगतिसे जाती हुई एक ट्रकने कुचलकर उसके शवको मांसके लोथड़ोंमें परिवर्तित कर दिया। जनपथ रक्तरञ्जित हो गया।

ड्राइवर न्यायालयमें तलब हुआ। उसने अपनी पैरवी मुझे सौंपी थी।

न्यायालयमें मृतबालकके पिताके बयानका पहला वाक्य था कि हकीकत यह है कि इस मामलेमें ड्राइवरका कोई कसूर नहीं है। उस स्वर्गीय बच्चेकी भूल है जिसने तेज आती हुई ट्रकके सामने दौड़कर सड़क पार करना चाहा था।

स्वर्गीय बच्चेके पिताका बयान पूरा नहीं होने पाया कि सर्वत्र शान्ति छा गयी और न्यायाधीशकी कलम रुक गयी। × × × × × ड्राइवर बरी हो गया।

पीछे मुझे यह बात मालूम हुई कि उस एकलौते पुत्रकी माँने अपने पति- (बच्चेके पिता-) से अदालत जाते समय कहा था कि 'मुन्ना इतने ही दिनोंके लिये मेहमान बनकर आया था। वह चला गया। ड्राइवरकी सजा हो जानेपर भी वह अब नहीं लौट सकता। पर सजा होनेपर ड्राइवरके बेगुनाह बीबी-बच्चोंको दुःख भोगना पड़ेगा। मुन्ना दूसरोंके दुःखको देखकर द्रवित हो जाता था। हमें ऐसा कुछ भी नहीं करना चाहिये जिससे उसकी आत्माको पीड़ा पहुँचे'……यह कहते-कहते उस सूनी गोदवाली माँका गला रुँध गया और अन्तिम वाक्य कठिनाईसे इतना और कह सकी 'बस, इतना ही कहना है।'

—राजेन्द्रप्रसाद जैन

मनन करनेयोग्य

प्रह्लादका न्याय

दैत्यराज सम्राट् प्रह्लादके पुत्र विरोचन और दरिद्र तेजस्वी ब्राह्मण-कुमार अङ्गिरापुत्र सुधन्वामें बाजी लग गयी। दोनों ही अपनेको एक दूसरेसे श्रेष्ठ बतलाते थे और केशिनी नामकी सुन्दरी कन्यासे विवाह करना चाहते थे। प्राणोंकी बाजी थी। जो हारे, वही प्राण दे दे। विरोचनने कहा—'निर्णय किससे करावेंगे? मेरा तो देवता और मनुष्योंपर जरा भी विश्वास नहीं है। सुधन्वाने कहा—'हम दोनों तुम्हारे पिता प्रह्लादके पास चलें। वे जो कुछ निर्णय करेंगे, हमलोगोंको स्वीकार होगा। मेरा विश्वास है, धर्मात्मा प्रह्लाद अनुचित निर्णय नहीं देंगे।' विरोचनने इस बातको मान लिया। दोनों प्रह्लादके पास पहुँचे और आपसका झगड़ा उन्हें बतलाया। प्रह्लादने सब सुन-समझकर अन्तमें कहा—'बेटा विरोचन! सुधन्वाके पिता अङ्गिरा मुझसे, सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे और सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है। इस कारण, इस विवादमें तुम सुधन्वासे हार गये।' फिर प्रह्लादजीने सुधन्वासे कहा—'ब्रह्मन्! आप कृपापूर्वक विरोचनको प्राण-दान करें।'

प्रह्लादके न्यायसे सुधन्वाने चकित होकर कहा—'दैत्यराज! तुमने धर्मका पक्ष लेकर सच्ची बात कही, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें तुम्हारे पुत्रको दे देता हूँ। यह सुन्दरी केशिनी भी इन्हींकी पत्नी हो।

न्यायका नमूना

इंग्लैंडमें चतुर्थ हैनरीका शासन था। उस समय पाँचवाँ हैनरी युवराजपदपर था। एक बार उसका एक नौकर किसी अपराधमें पकड़ा गया। युवराजने उसको छुड़ानेकी चेष्टा की। परंतु प्रधान न्यायाधीश श्रीगैस्कीने उसकी बात नहीं सुनी और अपराधीको उचित दण्ड दे दिया। युवराज गुस्सेमें आकर अदालतमें पहुँचा और नौकरको छोड़नेके लिये जजको आज्ञा दी। जजने नम्रताके साथ युवराजको कानूनकी मर्यादा समझाकर सलाह दी—'आप यदि नौकरको छुड़ाना चाहते हैं तो क्षमाके लिये सम्राट् चतुर्थ हैनरीसे प्रार्थना कीजिये।' परंतु युवराजने अपराधीको जबरदस्ती छुड़ा ले जानेकी चेष्टा की। इसपर जज श्रीगैरको महोदयने दृढ़तापूर्वक युवराजको अदालतसे बाहर निकल जानेका आदेश दिया।

युवराज क्रोधसे आगबबूला हो गया और न्यायाधीशकी कुर्सीकी ओर झपटा। लोगोंने समझा कि यह उन्हें मारनेको जा रहा है, परंतु दो ही कदम आगे बढ़ा था कि वह जजके तेजपूर्ण और अत्यन्त गम्भीर मुखकी ओर देखकर रुक गया। उसकी आगे बढ़नेकी हिम्मत नहीं हुई। जज श्रीगैस्कीने युवराजसे गम्भीरताके साथ कहा—'युवराज! मैं इस न्यायासनपर बैठकर राजाके सम्मानकी रक्षा कर रहा हूँ। आपको चाहिये कि अदालतका सम्मान रखकर, भविष्यमें आप जिसपर शासन करेंगे, उस प्रजाको आदर्श सिखायें। आपने अदालतका अपमान किया है, अतः मैं आपको कैदकी सजा देता हूँ।'

युवराजको अब चेत हुआ और वह अपने कार्यके लिये पश्चात्ताप करने लगा तथा बिना किसी उज्रके जेलमें चला गया। चतुर्थ हैनरीने आनन्दमें भरकर कहा—'ऐसा न्यायाधीश जिस राज्यमें है, वह राज्य निश्चय ही सुखी है और कानूनके उल्लङ्घन करनेपर जिस राजाका पुत्र भी सिर झुकाकर कानूनकी पाबंदीके लिये सजा भोगता है, वह राजा भी सुखी है।'

आनन्दकी अनुभूति

समुद्रके हृदयस्थलपर उठती हुई लहरोंको देखकर हम सोचते हैं—ओह, सागर कितना क्षुब्ध है, कितना चञ्चल है। पर कदाचित् हम उसी समय सागरके भीतर प्रवेश करके इन तरंगोंसे कुछ ही दूर नीचे जानेपर देखते तो हमें दीखता कि समुद्रका गर्भ तो बिल्कुल शान्त है। ठीक इसी प्रकार जब हम अपने मनको टटोलते हैं तो दीखता है कि यहाँ तो विषयोंकी आँधी चल रही है। किंतु यदि मनके भीतर प्रवेश करते, मन जिस परमात्माके आधारपर अवलम्बित है, उस परमात्माको छूने लगते, तब अनुभव होता कि यहाँ तो अखण्ड आनन्द छाया हुआ है। क्षोभ नहीं, विकलता नहीं, यहाँ तो पूर्ण शान्तिका साम्राज्य फैला हुआ है।

क्या यह सम्भव है कि हम मनके भीतर चले जायँ, परमेश्वरको छू लें, हमें यह पूर्ण आनन्द मिल जाय ? अवश्य सम्भव है। वह आनन्द तो हमारी प्रतीक्षा कर रहा है; प्रभु तो हमारी बाट देख रहे हैं कि कब हम बाहरकी ओर आनन्द ढूँढना छोड़कर भीतरकी ओर चल पड़ें, प्रभुको जान लें, उनसे मिलकर हमारी जलन शान्त हो जाय, सदाके लिये हमें पूर्ण आनन्द मिल जाय। पर हम तो उस ओर जा रहे हैं, जिधर आनन्द मिलनेकी बात ही नहीं। चाहते हैं हम सभी आनन्दको ही, हममेंसे प्रत्येक निरन्तर आनन्द ही ढूँढ़ रहा है, पर ढूँढ़ रहा है वहाँ जहाँ वह नहीं है ! आनन्द तो एक मात्र प्रभुमें है। प्रभु नित्य हमारे अंदर ही विराजमान हैं, हमारे इसी अशान्त मनकी ओटमें वे अवस्थित हैं, उन्हींके आश्रित हमारा मन है। अपने इतने निकट वर्तमान प्रभुसे जब हमारा मिलन होगा, तभी आनन्द मिलेगा।

अभी हमारी बुद्धि प्रभुको छोड़कर अन्यको विषय कर रही है, हमारा मन प्रभुको भूलकर अन्यका मनन कर रहा है। इन्द्रियाँ प्रभुकी ओर न जाकर दूसरी ओर दौड़ रही हैं, शरीर प्रभुकी सेवासे विमुख हो रहा है, हम झूठी ममतामें फँसे हुए है और मिथ्या अहंकार हमें भ्रमित किये हुए है। इसीसे हम अशान्त हैं। हमारी बुद्धि प्रभुको समर्पित हो जाय, मन प्रभुपर न्योछावर हो जाय, इन्द्रियाँ प्रभु-परायण हो जायँ, शरीर प्रभुकी सेवामें संलग्न हो जाय, झूठी ममता टूट जाय और मिथ्या अहंकार मिट जाय—बस, फिर अशान्ति भी सदाके लिये मिट जायगी।

हमें इसीके लिये प्रयत्न करना है। बुद्धिके द्वारा हम प्रभुके स्वरूपका निश्चय करें—**'शान्तिसमृद्धममृतम्'**—प्रभु पूर्ण शान्त हैं, पूर्ण प्रसन्न हैं, **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**, प्रभु विज्ञानस्वरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** हैं। प्रभु सत्य हैं, ज्ञानस्वरूप हैं, आनन्दस्वरूप हैं, **'रसो वै सः'** प्रभु रस-स्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं। रस-स्वरूप एवं प्रेमरूप प्रभुको ही पाकर तो पुरुष आनन्द-भाजन बन जाता है, यदि हृदयके आकाशमें स्थित आनन्दस्वरूप प्रभु न होते तो प्राण-अपानकी क्रिया कौन कर सकता ? ये प्रभु ही तो सारे विश्वको आनन्द दान करते हैं, **'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति'**—इन्हीं आनन्दस्वरूप प्रभुके कलामात्र आनन्दके आश्रित रहकर ही तो समस्त प्राणी जीवन धारण करते हैं, आनन्दस्वरूप प्रभुसे ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर आनन्दस्वरूप प्रभुके द्वारा ही जीवित रहते हैं एवं प्रयाण करते समय आनन्दस्वरूप प्रभुमें ही समा जाते हैं।

मन प्रभुमें तन्मय हो जाय तो इन्द्रियाँ अपने-आप उनमें लग जाती हैं। पर साथ ही हमें इन्द्रियोंको प्रभुकी ओर मोड़नेकी आवश्यकता है। हमारे नेत्रोंके सामने जो भी रूप आवे, हम अनुभव करें—यह तो

हमारे प्रभुका ही रूप है, हमें प्रभुके ही दर्शन हो रहे हैं। कानोंमें जो भी शब्द सुन पड़ें, हम सोचें—ये तो हमारे प्रभु ही बोल रहे हैं, हमें प्रभुके शब्द सुनायी पड़ रहे हैं। नासिकामें किसी प्रकारकी गन्ध आवे तो हम अनुभव करें कि इस गन्धके रूपमें प्रभु ही व्यक्त हो रहे हैं। कैसा भी स्पर्श प्राप्त हो, यह प्रतीति हो कि हमें प्रभुका ही स्पर्श प्राप्त हो रहा है। रसनेन्द्रिय जिस रसका आस्वाद ले, उसमें हमें यह भान हो कि रस-रूपमें प्रभु ही हमारे आस्वाद्य बने हुए हैं। ऐसा कर लेना ही इन्द्रियोंको प्रभुपरायण बना लेना है।

वाणीके द्वारा भी प्रभुकी सेवा ही हो। चिथड़ा लपेटे राहका भिखारी मिलने आवे तो हमें अनुभव हो कि प्रभु पधारे हैं तथा हम आगे बढ़कर अमृतमयी वाणीसे उनका यथायोग्य स्वागत करें। इसी तरह कदाचित् सम्राट् पधारें तो हमें यह अनुभव हो 'जो प्रभु चिथड़े लपेटे आये थे, वे ही सम्राट् बनकर आये हैं।' सम्राट्की सेवा तो उनके अनुरूप ही होनी चाहिये, पर उस भिखारीमें एवं उन सम्राट्में आन्तरिक आदरभाव, अपनत्व एवं प्रेमका तिलमात्र भी तारतम्य नहीं हो। यदि कमी-बेसी हुई तो हमें समझना चाहिये कि परीक्षामें हम अनुत्तीर्ण हो गये तथा आगेके लिये प्रयास करना चाहिये कि समान भावसे हम सबमें प्रभुको विराजित देख सकें, समान प्रेम कर सकें, समान अपनत्व दे सकें; हमारी वाणी किसीके लिये भी कभी उद्वेगका कारण न बने, वाणीमें सदा मधुरता भरी हो, कभी किसीको रूक्षताकी गन्ध भी न मिले, पूर्ण सत्य भरा हो, उसमें झूठ-कपट-दम्भकी छायातक नहीं हो, सबके हितकी भावनासे ओत-प्रोत हो, वैर-विरोध तथा द्वेष-ईर्ष्यासे सर्वथा शून्य हो। इस कसौटीपर कसी हुई वाणी ही हमारे मुँहसे आवश्यक व्यवहारके समय जगत्-रूप प्रभुकी सेवाके लिये निकले तथा इसके अतिरिक्त समयमें भी निरन्तर प्रभुके स्तवन, विशुद्ध प्रार्थना, प्रभुके स्वरूपके प्रवचन—गुण-वर्णन आदिमें ही वह डूबी रहे। यह हो गया तो हम समझें कि वाणी भी प्रभुकी ओर मुड़ गयी।

शरीरकी सेवाका कोई अवसर हम खो न दें, इसके लिये सावधान रहें। हमारे शरीरका अणु-अणु प्रभुकी सेवामें ही लगे। अनेक रूपोंमें प्रभु हमारी सेवा लेनेके लिये उपस्थित होते हैं। कभी जेठकी दोपहरीमें केवल पानी पिला देनेके लिये कहते हैं, कभी पथके किनारे अन्धे बने हुए खड़े पथ दिखा देनेकी प्रार्थना करते हैं, कभी पंगु बने हुए हाथका सहारा माँगते हैं, कभी हमारे औषधालयके सामने फोड़ेकी वेदना लिये हमसे मरहम-पट्टी कर देनेकी, अपने जर्जर शरीरके लिये अच्छी-सी ओषधि देनेकी भीख माँगते हैं तथा कभी स्टेशनसे छूटती हुई गाड़ीके डिब्बेके सामने आकर हमसे किंवाड़ खोल देने, भीतर जाने देनेकी प्रार्थना करते हैं। माता-पिता, भाई-बन्धु, गुरुजन, परिजन आदि बनकर विविध भाँतिसे विविध अवसरोंपर वे हमारे शरीरसे सेवा लेने आते हैं, सेवा कर देनेकी प्रेरणा करते हैं। पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-लता बनकर भी वे हमारे सामने आते हैं, हमें सेवाका अवसर देते हैं। दिनभरमें न जाने कितनी बार किन-किन रूपोंमें आते हैं और हमें धन-जनसे नहीं, केवल शरीर मात्रसे सम्पन्न होनेवाली अपनी सेवाका अवसर देते हैं। हमें चाहिये कि इन सभी अवसरोंपर पूरे उत्साहसे हम अपने शरीर-को प्रभुकी यथायोग्य सेवामें नियोजित कर दें। साथ ही पूरी सावधानी रखें कि सेवाके सन्दर्भमें कहीं प्रभुके किसी रूपको हमारे इस शरीरसे पीड़ा न पहुँच जाय।

उपर्युक्त बातें यदि जीवनमें समा गयीं तो मन प्रभुमें तन्मय हो जायेगा तथा अखण्ड, असीम आनन्दकी अनुभूति स्वतः होने लगेगी। तब हम आनन्दातिरेकमें स्वाभाविक रूपसे निमग्न हो जायेंगे।

सम्मान्य ग्राहकों एवं प्रेमी पाठकोंसे निवेदन

(१) 'कल्याण'के ५८वें वर्षका यह ९वाँ अङ्क है। आगे १०वें, ११वें एवं १२वें अङ्कोंके प्रकाशित हो जानेके पश्चात् यह वर्ष पूरा हो जायेगा। आगामी वर्ष—५९वेंका प्रथम (जनवरी १९८५का) अङ्क विशेषाङ्कके रूपमें 'मत्स्यपुराणाङ्क' (उत्तरार्द्ध) प्रकाशित होगा। 'मत्स्यपुराण'का पूर्वार्द्ध इस वर्ष (जनवरी १९८४)के विशेषाङ्क तथा फरवरी मासके साधारण अङ्कमें १३२ अध्यायतक प्रकाशित हो चुका है। आगामी वर्ष उसके आगे १३३ वें अध्यायसे 'मत्स्यपुराण'का हिन्दी अनुवादसहित मूल प्रकाशित करनेका विचार किया गया है। इस प्रकार जो सज्जन चालू वर्षमें कल्याणके ग्राहक बन चुके हैं, उन्हें विषयकी सम्पूर्णताकी दृष्टिसे आगामी—५९वें वर्ष (जनवरी १९८५)के विशेषाङ्कका ग्राहक होना भी आवश्यक है। गतवर्ष ५८ वें वर्षके विशेषाङ्क 'मत्स्यपुराणाङ्क'-पूर्वार्द्धकी तरह यह उत्तरार्द्ध भी विषयानुरूप गम्भीर, किंतु रोचक, उपादेय और अनूठा संकलन होगा।

(२) यद्यपि इस वर्ष कागज तथा अन्य खर्चोंकी अत्यधिक वृद्धि हुई है, तथापि कल्याणका वार्षिक मूल्य पूर्ववत् २४.०० (चौबीस रुपये) मात्र ही रखा गया है। वी० पी०का डाकखर्च सरकारद्वारा अधिक बढ़ाये जानेके कारण, जिन ग्राहकोंको विशेषाङ्क वी० पी०से भेजा जायेगा उन्हें गत वर्षकी तरह ३.०० (तीन रुपये) अधिक देने पड़ेंगे, अर्थात् २७.०० (सत्ताईस रुपये) की वी० पी० द्वारा ही विशेषाङ्क प्राप्त हो सकेगा। अतः ३.०० (तीन रुपये)के अतिरिक्त अधिभारसे बचनेके लिये सभी ग्राहक महानुभावोंसे अनुरोध है कि वे वार्षिक शुल्क २४.०० (चौबीस रुपये) मनीआर्डर द्वारा ही अग्रिम भेजकर अपना एवं अपने 'कल्याण'का हित-सम्पादन करें।

(३) ग्राहकोंकी सुविधाके लिये मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें भेजा जा रहा है। रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पूरा पता—नाम, ग्राम, मुहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश इत्यादि सुस्पष्ट और सुवाच्य मोटे अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें। पुराने ग्राहक हों तो अपनी सही ग्राहक-संख्या एवं नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' अवश्य लिखें। ऐसा करनेसे आपके अङ्कोंका प्रेषण सही, शीघ्र और सुरक्षित होगा। मनीआर्डर-फार्मपर ग्राहक-संख्या अङ्कित न होने अथवा 'पुराना' या 'नया ग्राहक' न लिखनेकी दशामें आपकी सेवामें पुरानी ग्राहक-संख्यासे वी० पी० और नवीन ग्राहक-संख्यासे रजिस्ट्री चली जायगी, जिससे आप तथा कार्यालय—दोनोंको अतिरिक्त खर्च तथा व्यर्थ समय नष्ट होनेसे असुविधा होगी; अतः अपने तथा कल्याण-व्यवस्था के सुविधार्थ (व्यर्थ खर्च तथा समयकी बचतके लिये) मनीआर्डर-कूपनपर ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें।

(४) जिन पुराने ग्राहकोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक पोस्टकार्ड लिखकर सूचना अवश्य दे दें, जिससे उनकी ग्राहक-संख्या निरस्त कर दी जाय और वी० पी० भेजनेकी सम्भाव्य स्थितिमें 'कल्याण'को डाकखर्चकी हानि न उठानी पड़े।

(५) आगामी वर्षका विशेषाङ्क—'मत्स्यपुराणाङ्क'—उत्तरार्द्ध समयपर प्रकाशित हो, एतदर्थ हम भरसक प्रयत्नशील हैं। भगवत्कृपासे विशेषाङ्कका मुद्रणकार्य प्रारम्भ हो गया है। यदि कोई अपरिहार्य कारण या अप्रत्याशित परिस्थिति उपस्थित न हुई तो विशेषाङ्कके यथासमय प्रकाशित होनेकी पूरी सम्भावना है। अतः सभी प्रेमी ग्राहक महानुभावोंको वार्षिक शुल्क चौबीस रुपये मनीआर्डरसे अग्रिम भेजनेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस, गोरखपुर (२७३००५)

पंजीकृत-संख्या—जी० आर०—१३

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

(जपकी अवधि—कार्तिक पूर्णिमा, विक्रम-संवत् २०४० से चैत्र पूर्णिमा विक्रम-संवत् २०४१)

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम्। स्मरन्ति ये स्मारयन्ति हरेर्नामकलौ युगे ॥

'मनुष्योंमें वे लोग भाग्यवान् हैं तथा निश्चय ही कृतार्थ हो चुके हैं, जो इस कलियुगमें स्वयं श्रीहरिका नाम-स्मरण करते हैं और दूसरोंसे करवाते हैं।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस षोडश नाम-महामन्त्रका जप पूर्ववत् पर्याप्त संख्यामें इस वर्ष भी हुआ है। विवरण इस प्रकार है—

(क) मन्त्र-संख्या ३०,३४,८४,००० (तीस करोड़ चौंतीस लाख चौरासी हजार)।

(ख) नाम-संख्या ४,८५,५७,४४,००० (चार अरब, पचासी करोड़, सत्तावन लाख चौवालीस हजार)।

(ग) षोडश-मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी जप हुआ है। (घ) बालक-युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने उत्साहसे जपमें योग दिया है। भारतका शायद ही कोई ऐसा प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। भारतके अतिरिक्त बाहर—नेपाल, बाँगलादेश और सुदूरस्थ अफ्रीका आदिसे भी जप होनेकी सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

जयपुरके कल्याणके ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

कल्याणके जयपुरके ग्राहकोंकी सुविधाके लिये सत्सङ्गी भाइयोंद्वारा इस वर्ष (सन् १९८४ ई०) के विशेषाङ्क (फरवरीके साधारण अङ्कसहित) का वितरण-कार्य जयपुरसे ही सम्पन्न हुआ था। यह अनुभवके लिये एक प्रयोगरूपमें था, जो भगवत्कृपासे ही प्रायः सफल रहा। अतः इससे उत्साहित होकर अगामी वर्ष-(सन् १९८५ ई०) में भी जयपुरके सभी ग्राहकोंके लिये कल्याण-विशेषाङ्क तथा प्रतिमासके साधारण अङ्क जयपुरसे ही वितरित करनेका निश्चय किया गया है। तदनुसार जयपुरसे ही जयपुरके ग्राहकोंको प्रतिमास अङ्क उनके घरोंपर पहुँचानेकी व्यवस्था की गयी है। जिससे—

(१) जयपुरके ग्राहकोंको अङ्क शीघ्र एवं अच्छी हालतमें प्राप्त हो सकें;

(२) वी० पी० पी० खर्च एवं पत्र-व्यवहारमें लगनेवाले धन एवं समयकी बचत रहे। और—

(३) साधारण अङ्कोंके खोनेकी सम्भावना बहुत कम रहे।

हमारे अधिकृत जयपुरके वितरण-व्यवस्था-केन्द्रका पता इस प्रकार है—

श्रीसुन्दरम् एजेन्सी, फोन नं० ४३३७९
३४, बुलियन बिल्डिङ्गके अन्दर, हल्दियोंके रास्तेके पहले चौराहेपर,
जौहरी बाजार, जयपुर—३०२००३

(यहाँ शनिवार, रविवारको सम्पर्क करें। बुधवारको अवकाश रहता है।)

जयपुर निवासी 'कल्याण'के सभी ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि आगामी वर्षके कल्याणका वार्षिक मूल्य २४-०० (चौबीस रुपये मात्र) हमें सीधे न भेजकर उपर्युक्त पतेपर ही जयपुरमें जमा करने-करवानेकी कृपा करेंगे। जयपुरस्थ कल्याण-व्यवस्थामें यदि किसी प्रकारकी उन्हें असुविधा हो अथवा अपना पता आदि बदलवाना हो तो उसके लिये भी कृपया उपर्युक्त (वितरण-व्यवस्था-केन्द्रके-) पतेपर ही सम्पर्क करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण'